नियमसार अनुशीलन

मंगलाचरण

(अडिल्ल)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणमय भाव जो।
शिवमग के आधार जिनागम में कहे।।
करने के हैं योग्य नियम से कार्य वे।
नियमसार के एकमात्र प्रतिपाद्य वे।।1।।

पद्रव्यों से भिन्न ज्ञानमय आतमा।
रागादिक से भिन्न ज्ञानमय आतमा।।
पर्यायों से पार ज्ञानमय आतमा।
भेदभाव से भिन्न सहज परमातमा।।2।।

यह कारण परमातम इसके ज्ञान से।
इसमें अपनेपन से इसके ध्यान से।।
बने कार्य परमातम हैं जो वे सभी।
सिद्धशिला में थित अनंत अक्षय सुखी।।3।।

उन्हें नमन कर उनसा बनने के लिये।
अज अनंत अविनाशी अक्षय भाव में।।
अपनापन कर थापित उसमें ही रमूँ।
रत्नत्रयमय साम्यभाव धारण करूँ।।4।।

एकमात्र श्रद्धेय ध्येय निज आतमा।
एकमात्र है परमज्ञेय निज आतमा।।
ज्ञान-ध्यान-श्रद्धान इसी का धर्म है।
शिवसुख कारण यही धर्म का मर्म है।।5।।

भव्यजनों का मानस इसके पाठ से।
परभावों में अपनेपन से मुक्त हो।।
अपने में आ जाय यही है भावना।
मेरा मन भी नित्य इसी में रत रहे।।6।।

९

परमसमाधि अधिकार

(गाथा १२२ से गाथा १३३ तक)

नियमसार गाथा १२२

विगत आठ अधिकारों में क्रमश: जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना और शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त की चर्चा हुई। अब इस नौवें अधिकार में परमसमाधि की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस परमसमाधि अधिकार को आरंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न ''अब समस्त मोह-राग-द्वेषादि परभावों के विध्वंस का हेतुभूत परमसमाधि अधिकार कहा जाता है।''

अब नियमसार की गाथा १२२वीं एवं परमसमाधि अधिकार की पहली गाथा में परमसमाधि के धारक का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।१२२।।

(हरिगीत)

वचन उच्चारण क्रिया तज वीतरागी भाव से।
ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे।।१२२।।

वचनों के उच्चारण की क्रिया छोड़कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है; उसे परमसमाधि होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमसमाधि के स्वरूप का कथन है।

यद्यपि अशुभ से बचने के लिए कभी-कभी दिव्यध्वनि से मंडित परमवीतरागी तीर्थंकर सर्वज्ञ देव का स्तवनादि परम जिनयोगीश्वरों को

भी करने योग्य कहा गया है; तथापि **परमार्थ से प्रशस्त-अप्रशस्त सभी वचन संबंधी व्यापार (क्रिया) करने योग्य नहीं है।**

इसलिए समस्त वचनरचना को छोड़कर समस्त कर्मरूपी कलंकरूप कीचड़ से मुक्त भाव से एवं भावकर्म से रहित भाव से अर्थात् परम वीतरागभाव से तथा त्रिकाल निरावरण नित्य शुद्ध कारणपरमात्मा को; अपनी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न निश्चय धर्मध्यान से एवं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव में लीन परम शुक्लध्यान से जो परम वीतराग तपश्चरण में लीन निर्विकार संयमी ध्याता है; उस द्रव्यकर्म और भावकर्म की सेना को लूटनेवाले संयमी को वस्तुत: परमसमाधि होती है।''

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**शुभ-अशुभ समस्त विकल्पों से रहित होकर ज्ञानानन्दस्वरूप के अनुभव में लीन होना ही परमसमाधि है।** इसलिए स्वाध्याय आदि का जो विकल्प है, उसे भी छोड़कर परम वीतरागभावपूर्वक **कारण परमात्मा का ध्यान करना ही परमसमाधि है।**

जबतक ऐसी परमसमाधि नहीं हो जाती, तबतक वीतरागता के पोषक जिनशास्त्रों का स्वाध्याय, वीतराग देव की स्तुति आदि शुभ विकल्प आते हैं; परन्तु इनके अलावा अन्य अशुभ विकल्प नहीं आते।

परमार्थ से तो वह शुभराग भी कादव है ह्न मलिन है, विकार है; उसका व्यापार भी करने योग्य नहीं है। इन मलिन परिणामों से रहित जो वीतरागी परिणामों द्वारा कारणपरमात्मा का ध्यान करता है, उसे ही परमसमाधि होती है।[1]

ऐसे स्वभाव के आश्रय से 'जो सम्यग्दर्शन हुआ' ह्न यह श्रद्धा की अपेक्षा परमसमाधि है; पर यहाँ तो उसमें लीनतापूर्वक मुनियों को होनेवाली परमसमाधि की बात है, सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागी चारित्र की बात है। **अन्तरस्वभाव की दृष्टिपूर्वक उसमें लीनतारूप वीतरागी चारित्र ही वास्तविक समाधि है।**[2]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में मूलत: यही कहा गया है कि परम

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०२०   २. वही, पृष्ठ १०२२

समाधि की प्राप्ति उन शुद्धोपयोगी वीतरागी सन्तों को ही होती है; जो मन, वचन और काय संबंधी सभी रागात्मक विकल्पों से पार होकर पूर्ण वीतरागभाव से निर्विकल्प शुद्धोपयोग में समा जाते हैं।

यद्यपि यह परम सत्य है कि सभी प्रकार के शुभाशुभभाव करने योग्य नहीं हैं; तथापि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्तों के अशुभभाव से बचने के लिए कभी-कभी वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति और उनकी वाणी के श्रवण, अध्ययन, मनन-चिन्तन आदि के भाव भी आते रहते हैं; पर वे उपादेय नहीं हैं, विधेय नहीं हैं।

अत: परमसमाधि के उपासक सन्तों को उनमें अधिक उलझना, निरन्तर उलझे रहना उचित नहीं है।।१२२।।

इस गाथा की टीका समाप्त करते हुए टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्र

(वंशस्थ)

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां
हृदि स्फुरन्तीं समतानुयायिनीम्।
यावन्न विद्मः सहजात्मसंपदं
न मादृशां या विषया विदामहि।।२००।।

(हरिगीत)

समाधि बल से मुमुक्षु उत्तमजनों के हृदय में।
स्फुरित समताभावमय निज आतमा की संपदा।।
जबतक न अनुभव करें हम तबतक हमारे योग्य जो।
निज अनुभवन का कार्य है वह हम नहीं हैं कर रहे।।२००।।

किसी ऐसी अकथनीय परमसमाधि द्वारा श्रेष्ठ आत्माओं के हृदय में स्फुरायमान समता की अनुगामिनी सहज आत्मसम्पदा का जबतक हम (मुनिराज) अनुभव नहीं करते; तबतक हम जैसे मुनिराजों का जो विषय है, उसका हम अनुभव नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि मुनिराजों का मूलधर्म तो यही है कि वे अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहें; क्योंकि उसके बिना वे उस महत्त्वपूर्ण काम से वंचित रह जावेंगे; जिसके लिए उन्होंने यह मुनिधर्म धारण किया है।।२००।। ●

नियमसार गाथा १२३

परमसमाधि का स्वरूप बतानेवाली १२३वीं गाथा इसप्रकार है ह्र

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।१२३।।

(हरिगीत)

संयम नियम तप धरम एवं शुक्ल सम्यक् ध्यान से।
ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे।।१२३।।

संयम, नियम, तप, धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है; उसे परमसमाधि होती है।

इस १२३वीं गाथा की दूसरी पंक्ति तो १२२वीं गाथा के समान ही है; जिसमें कहा गया है कि जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''इस गाथा में समाधि का लक्षण कहा गया है।

सभी इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग संयम है और निज आत्मा की आराधना में तत्परता नियम है। आत्मा को आत्मा में स्वयं से धारण किए रहना ही अध्यात्म है, तप है।

सम्पूर्ण बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर के परित्याग लक्षणवाली अन्त:क्रिया के आधारभूत आत्मा को निरवधि त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप जाननेवाले जीव की परिणति विशेष स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान है और ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान का फल आदि के विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रियों से अगोचर, निरंजन निज परमात्म तत्त्व में अविचल स्थिति निश्चय शुक्लध्यान है।

इसप्रकार विशेष सामग्री से सहित, अखण्ड, अद्वैत, परमचैतन्यमय आत्मा को, जो परमसंयमी नित्य ध्याता है; उसे वस्तुत: परमसमाधि है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में संयम, नियम, तप तथा धर्मध्यान व शुक्लध्यान ह्न इसप्रकार परमसमाधि के पाँच साधनों का वर्णन किया गया है।

उक्त पाँच साधनों द्वारा जो जीव अपने आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि होती है। आत्मा का ध्यान करना अर्थात् आत्मा में ही लीन हो जाना निश्चय से परमसमाधि है।[1]''

इसके बाद स्वामीजी संयम, नियम, तप, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के स्वरूप को विस्तार से समझाते हैं, जो मूलत: पठनीय है।

इस गाथा और इसकी टीका में यही कहा गया है कि इन्द्रियों के व्यापार के परित्यागरूप संयम, आत्मा की आराधना में तत्परतारूप नियम, स्वयं को स्वयं में धारणरूप तप, स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान और निरंजन निज परमात्मतत्त्व में अविचल स्थितिरूप शुक्लध्यानरूप विशेष सामग्री सहित, अखण्ड, अद्वैत, परमचैतन्य आत्मा का ध्यान ही परमसमाधि है।।१२३।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इस प्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम् ।।२०१ ।।

(हरिगीत)

निर्विकल्पक समाधि में नित रहें जो आतमा।
उस निर्विकल्पक आतमा को नमन करता हूँ सदा।।२०१।।

जो सदा चैतन्यमय निर्विकल्प समाधि में रहता है; उस द्वैताद्वैत के विकल्पों से मुक्त आत्मा को मैं नमन करता हूँ।

उक्त छन्द में समाधिरत आत्मा को अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार किया गया है।।२०१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०२१

नियमसार गाथा १२४

विगत दो गाथाओं में परमसमाधि का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस १२४वीं गाथा में यह बता रहे हैं कि समता रहित श्रमण के अन्य सभी बाह्याचार निरर्थक हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ।।१२४।।

(हरिगीत)

वनवास कायक्लेशमय उपवास अध्ययन मौन से।
अरे समताभाव बिन क्या लाभ श्रमणाभास को।।१२४।।

वनवास, कायक्लेशरूप अनेकप्रकार के उपवास, अध्ययन, मौन आदि क्रियायें समता रहित श्रमण को क्या करेंगे अर्थात् कुछ नहीं कर सकते।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में यह कहा गया है कि समताभाव के बिना द्रव्य-लिंगधारी श्रमणाभास को रंचमात्र भी परलोक (मोक्ष) का साधन नहीं है।

केवल द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास को; सभी प्रकार के सभी कर्म-कलंकरूप कीचड़ से रहित, महा आनन्द के हेतुभूत परम समता भाव बिना वनवास में बसकर वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठने से, ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से संतप्त पर्वत के शिखर की शिला पर बैठने से और हेमन्त ऋतु में अर्द्ध रात्रि में नग्न दिगम्बर दशा में रहने से, हड्डी और चमड़ी मात्र रह गये शरीर को क्लेशदायक महा उपवास से, निरन्तर अध्ययन करते रहने से अथवा वचन व्यापार की निवृत्तिरूप मौन से क्या रंच मात्र भी कुछ होनेवाला है ? नहीं, कुछ भी होनेवाला नहीं है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिन्हें अंतरंग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भावलिंग रहित मात्र बाह्यलिंग ही है, वे श्रमणाभास हैं। **'मैं दूसरों को प्रसन्न करूँ अथवा दूसरे मुझ पर प्रसन्न रहें' ह्न ऐसी जिनकी मान्यता है, उन्हें तो समता की गंध भी नहीं है।** समस्त कर्मकादव से रहित परमानन्द का हेतुभूत परमसमताभाव ही मोक्ष का कारण है, परन्तु ऐसे समताभाव से रहित श्रमणाभास भले जंगल में वास करता हो, उग्र कायक्लेश आदि तप करता हो तो भी उसे मोक्ष की किंचित् भी साधना नहीं होती।[१]

तात्पर्य यह है कि उपवास आदि करने से उसे स्वर्गरूपी फल भले प्राप्त हो जाय, परन्तु वह फल प्रशंसनीय नहीं है, उपादेय नहीं है। **उपादेय तो एक मोक्षफल ही है और मोक्ष का साधन आत्मज्ञान बिना नहीं होता।**[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि आत्मज्ञानपूर्वक हुए वीतरागी समताभाव के बिना वनवास, उपवास, पठन-पाठन, अध्ययन-मनन और मौन आदि बाह्य क्रियाएँ कुछ भी नहीं कर सकतीं।।१२४।।

इसके बाद **'अमृताशीति में भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा।
प्रपठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः ।।६४।।[३]

(हरिगीत)

विपिन शून्य प्रदेश में गहरी गुफा के वास से।
इन्द्रियों के रोध अथवा तीर्थ के आवास से।।
पठन-पाठन होम से जपजाप अथवा ध्यान से।
है नहीं सिद्धि खोजलो पथ अन्य गुरु के योग से।।६४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०२९ २. वही, पृष्ठ १०३० ३. अमृताशीति, श्लोक ५९

पर्वत की गहन गुफा आदि में अथवा वन के शून्य प्रदेश में रहने से, इन्द्रियों के निरोध से, ध्यान से, तीर्थों में रहने से, पठन से, जप और होम से ब्रह्म (आत्मा) की सिद्धि नहीं है।

इसलिए हे भाई! गुरुओं के सहयोग से भिन्न मार्ग की खोज कर।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अतः हे भाई! तू व्रत, तप, जप, वगैरह समस्त शुभभाव से अन्य सच्चे उपाय को श्रीगुरु के पास जाकर शोध। तात्पर्य यह है कि **जो गुरु 'व्रत, तप, पूजा आदि क्रियाकाण्ड के शुभराग से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो जायेगी' ह्न ऐसा कहते हैं, वे गुरु सच्चे नहीं हैं; परन्तु जो इससे भिन्न उपाय बताते हैं, वही गुरु सच्चे हैं; उन सच्चे गुरुओं के पास जाकर तू आत्मा की सिद्धि के उपाय को शोध।**

'श्रीगुरु के द्वारा इससे भिन्न दूसरे उपाय को शोध' ह्न ऐसा कहकर इन्द्रियनिरोध, तप आदि जितने भी शुभभाव कहे हैं, उन सबका मोक्षसाधन के लिए निषेध किया गया है। और इनसे भिन्न अन्य कोई उपाय, जो बाकी रह गया है, उसे खोजने को कहा गया है।[१]''

इसीप्रकार का भाव श्रीमद् राजचन्द्र ने भी व्यक्त किया है; जो इसप्रकार है ह्न

यम नियम संयम आप कियो पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो,
बनवास लियो मुखमौन रह्यो दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
मन पौन निरोध स्वबोध कियो हठ जोग प्रयोग सुतार भयो,
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे उरसें हि उदासि लही सबसे।।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये मत मण्डन खण्डन भेद लिये,
वह साधन बार अनन्त कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो।
अब क्यौं न विचारत है मन में कछु और रहा उन साधन से ?

इसमें कहा गया है कि तूने अपनी समझ से सुख-शान्ति प्राप्त करने के अनेक उपाय किये, पर सफलता हाथ नहीं लगी। ऐसी स्थिति में भी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३२

तू यह विचार क्यों नहीं करता कि कुछ ऐसा बाकी रह गया है, जो कार्यसिद्धि का असली कारण है ।।६४।।

इसके बाद एक छन्द स्वयं टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं समतया रहितस्य यते र्न हि ।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं भज मुने समताकुलमंदिरम् ।।२०२।।

(हरिगीत)

अनशनादि तपस्या समता रहित मुनिजनों की।
निष्फल कही है इसलिए गंभीरता से सोचकर ।।
और समताभाव का मंदिर निजातमराम जो।
उस ही निराकुलतत्त्व को भज लो निराकुलभाव से ।।२०२।।

समताभाव रहित अनशनादि तपश्चरणों से कुछ भी फल नहीं है। इसलिए हे मुनि ! समताभाव का कुलमंदिर अर्थात् वंश परम्परागत उत्तम घर यह अनाकुल निजतत्त्व है; उसे भज, उसका भजन कर, उसकी आराधना कर।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निजतत्त्व के आश्रय से वीतरागी समता प्रगट होती है, वही वास्तविक समता है। इसके अलावा मंदकषाय आदि वास्तविक समता नहीं है। चैतन्य के आश्रय से जिनके वीतरागी समता नहीं हुई है, उन्हें अनशन आदि तपश्चरणों से मोक्षरूपी फल नहीं होता।' इसलिए हे मुनि! समता के कुलमन्दिरस्वरूप स्वतत्त्व को तू भज।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि १२४वीं गाथा की टीका और टीका में उद्धृत तथा टीकाकार द्वारा लिखे गये छन्दों में एक ही बात जोर देकर कही जा रही है कि आत्मानुभव के बिना बाह्य क्रियाकाण्ड से कुछ भी होनेवाला नहीं है। अत: इससे विरक्त होकर जो आजतक नहीं कर पाया, सद्गुरु के सहयोग से वह करने का प्रयास कर, सच्चे मार्ग की खोज कर। बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझे रहने से कोई लाभ नहीं है ।।२०२।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३३

नियमसार गाथा १२५

परमसमाधि का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस अधिकार की आगामी सभी गाथाओं में अर्थात् ९ गाथाओं में समाधिरूप सामायिक किन लोगों को होती ह्न यह समझाते हैं। इन सभी गाथाओं की दूसरी पंक्ति लगभग एक समान ही है।

उक्त नौ गाथाओं में सबसे पहली अर्थात् १२५वीं गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१२५।।

(हरिगीत)

जो विरत हैं सावद्य से अर तीन गुप्ति सहित हैं।
उन जितेन्द्रिय संत को जिन कहें सामायिक सदा ।।१२५।।

जो सर्व सावद्य से विरत है, तीन गुप्तिवाला है और जिसने इन्द्रियों को बंद किया है, निरुद्ध किया है, कैद किया है; उसे सामायिक स्थायी है, सदा है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में सकल सावद्य से रहित, त्रिगुप्ति द्वारा गुप्त तथा सभी इन्द्रियों के व्यापार से विमुख मुनिराजों को सामायिक व्रत स्थायी है ह्न ऐसा कहा है।

इस लोक में जो एकेन्द्रियादि प्राणियों को क्लेश के हेतुभूत समस्त सावद्य की आसक्ति से मुक्त हैं; मन-वचन-काय के प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त व्यापार के अभाव के कारण तीन गुप्तिवाले हैं और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियों द्वारा उस-उस इन्द्रिय के योग्य विषय ग्रहण का अभाव होने से इन्द्रियों के निरोधक हैं; **उन महा मुमुक्षु परम वीतरागी संयमियों को वस्तुत: सामायिक व्रत शाश्वत है, स्थायी है।''**

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शाश्वत चैतन्य के अवलम्बन से जो समभाव प्रगट हुआ है, वह शाश्वत ह्न स्थाई रहता है; इसलिए उसे ही यहाँ शाश्वत ह्न स्थाई सामायिक कहा गया है।

यहाँ जो सर्वसावद्य के व्यापार से रहित कहा है, उसमें प्रथम सावद्यभाव तो मिथ्यात्व है, जो सबसे अधिक हानिकारक है। इसलिए सामायिक के लिए सर्वप्रथम उस मिथ्यात्व भाव का त्याग होता है; तत्पश्चात् चैतन्य में लीन होने पर जिनके पुण्य-पाप रूप सावद्यभाव भी छूट जाते हैं, उन्हें सर्वज्ञ के शासन में स्थायी सामायिक कहा है।[१]

'यहाँ जिस सावद्यभाव को छोड़ने के लिए कहा है, वह चैतन्य का स्वरूप नहीं।' ह्न ऐसा निर्णय हुए बिना दर्शनविशुद्धि नहीं होती और दर्शनविशुद्धि के बिना उक्त सावद्यभावों का त्याग नहीं होता। इसलिए सावद्यभावों के त्याग में दर्शनविशुद्धि समाहित ही है।[२]

यहाँ मुख्यपने मुनि की बात ली है; श्रावक को भी जितने अंशों में स्वभावसन्मुख वीतरागपरणति प्रगट हुई है, उतने अंशों में उसे भी स्थाई सामायिक है; क्योंकि उसके भी मिथ्यात्व आदि सावद्यभावों का परिहार हुआ है।[३]''

उक्त कथन के माध्यम से आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी यह कहना चाहते हैं कि सावद्य में हिंसादि भावों के साथ मिथ्यात्व और कषायें भी आती हैं। अत: **मिथ्यात्व और कषायों के अभाव के बिना सामायिक सदा नहीं होती।** मुद्दे की बात यह है कि मिथ्यात्व और कषायों के अभाव में जिस भूमिका में जितनी शुद्धि प्रगट हुई है; वह एक प्रकार से सामायिक ही है। अत: भूमिकानुसार शुभाशुभभाव के सद्भाव में भी मिथ्यात्व और **भूमिकानुसार कषाय के अभाव में शुद्ध-परिणतिरूप सामायिक विद्यमान रहती है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग के काल में तो सामायिक है ही; ज्ञानी के अन्य काल में भी शुद्ध-परिणतिरूप सामायिक है।**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३५ २. वही, पृष्ठ १०३६ ३. वही, पृष्ठ १०३६

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि वे **भावलिंगी मुनिराज सदा सामायिक में ही हैं कि जो समस्त सावद्य से मुक्त हैं,** त्रिगुप्त हैं और पंचेन्द्रिय विषयों के निरोधक हैं।।१२५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(मंदाक्रान्ता)

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्वसावद्यराशिं
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानाम्।
अन्त:शुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तु स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ।।२०३।।

(हरिगीत)

संसारभय के हेतु जो सावद्य उनको छोड़कर।
मनवचनतन की विकृति से पूर्णत: मुख मोड़कर।।
अरे अन्तर्शुद्धि से सद्ज्ञानमय शुद्धातमा।
को जानकर समभावमयचारित्र को धारण करें।।२०३।।

इसप्रकार सदा सामायिक में रहनेवाले मुनिराज, भवभय करनेवाले समस्त सावद्य को छोड़कर, मन-वचन-काय की विकृति को नष्ट कर, अंतरंग शुद्धि से ज्ञानकला सहित एक आत्मा को जानकर स्थिर समतामय शुद्ध शील को प्राप्त करते हैं।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मन-वचन-काय की विकृति को अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से होनेवाले विकार को निरन्तर नाश करने के लिए ऐसा जानना कि स्वभाव में विकार नहीं है तथा जो पर्याय में क्षणिक विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। जिसे ऐसा द्रव्य-पर्याय का विवेक प्रगट होता है, उसे ही अन्तरंग शुद्धात्मा में लीनतापूर्वक सामायिक होता है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि **मिथ्यात्व और कषाय के अभाव में भावलिंगी मुनिराज भूमिकानुसार सदा ही सामायिक में रहते हैं, समाधि में रहते हैं।।२०३।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३७

नियमसार गाथा १२६

अब इस गाथा में माध्यस्थभाव में आरूढ़ मुमुक्षु का स्वरूप कहते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१२६ ।।

(हरिगीत)

त्रस और थावर के प्रति अर सर्वजीवों के प्रति।
समभाव धारक संत को जिन कहें सामायिक सदा ।।१२६।।

जो स्थावर अथवा त्रस ह्न सभी जीवों के प्रति समभाव धारण करते हैं, उन्हें सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली शासन में कहा है।

इस गाथा की टीका टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव अत्यन्त संक्षेप में करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

''यहाँ, परममाध्यस्थभाव में आरूढ़ होकर स्थित परम मुमुक्षुओं का स्वरूप कहा है।

जो मुनिराज सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि हैं; वे मुनिराज, विकार के कारणभूत समस्त मोह-राग-द्वेष के अभाव से भेदकल्पना से मुक्त और परमसमरसीभाव से सहित होने से समस्त त्रस-स्थावर जीव निकायों के प्रति समताभाववाले हैं।

उन परमजिन योगीश्वरों को; सामायिक नाम का व्रत सनातन है, सदा है, स्थायी है ह्न ऐसा वीतराग-सर्वज्ञ के मार्ग में सिद्ध ही है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जगत में त्रस-स्थावर अनन्त जीव हैं, वे सभी मेरे लिए ज्ञेय हैं और मैं ज्ञान हूँ ह्न ऐसा जिसे भान होता है, उसे ही ज्ञातापने का समभाव प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त 'मैं किसी को बचा सकता हूँ अथवा मार सकता हूँ' ह्न ऐसी जिसकी मान्यता होती है, उसे समभाव नहीं होता; किन्तु विषमभाव ही होता है।

सर्वप्रथम ज्ञानस्वरूप आत्मा समस्त त्रस-स्थावर जीवों से भिन्न है ह्न ऐसा श्रद्धान करे, पश्चात् ऐसे समस्त त्रस-स्थावर जीवों से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थिर होना ह्न इसका नाम परम मध्यस्थभाव है। ऐसे परम मध्यस्थभाव में जो आरूढ़ होता है, उस परम मुमुक्षु को ही स्थाई सामायिक कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि समस्त परद्रव्य और परभावों से भिन्न निज भगवान आत्मा में स्थिरतारूप परम समताभाव ही सामायिक है।[1]

अहो ! जो आत्मा के उपशमरस में निमग्न हैं, उसी में डूब गये हैं, समा गये हैं, उन्हें भगवान सामायिक कहते हैं। ऐसा सामायिक मुनिराज के होता है; क्योंकि उनके विशेष लीनतारूप समभाव प्रगट हुआ है तथा गृहस्थ के मुनिराज के समान विशेष लीनता नहीं होती; परन्तु गृहस्थ को भी आत्मा के भानपूर्वक जितना वीतरागी समभाव होता है, उतनी सामायिक है। **समता में लीन होना, चैतन्यस्वरूप से शान्ति का झरना बहना, इसे ही भगवान के मार्ग में सामायिक कहा गया है।**[2]''

वैसे तो हम ध्यान अवस्था को ही सामायिक कहते हैं; किन्तु **यहाँ सभी प्रकार के समभाव को सामायिक कहा जा रहा है।** यही कारण है कि त्रस-स्थावर जीवों के प्रति सदा समताभाववाले सन्तों को स्थायी सामायिक होती है ह्न यह कहा गया है।।१२६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज आठ छन्द लिखते हैं; जिनमें तीन श्लोक, दो मालिनी, दो शिखरिणी एवं एक पृथ्वी है।

उक्त आठ छन्दों में से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा
परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्रम्।
अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ।।२०४।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३९ २. वही, पृष्ठ १०४०

(हरिगीत)

जिन मुनिवरों का चित्त नित त्रस-थावरों के त्रास से।
मुक्त हो सम्पूर्णतः अन्तिम दशा को प्राप्त हो।।
उन मुनिवरों को नमन करता भावना भाता सदा।
स्तवन करता हूँ निरन्तर मुक्ति पाने के लिए।।२०४।।

जिन परम जिन मुनियों का चित्त त्रस जीवों के घात और स्थावर जीवों के वध से अत्यन्त मुक्त है, निर्मल है तथा अन्तिम अवस्था को प्राप्त है। कर्मों से मुक्त होने के लिए मैं उन मुनिराजों को नमन करता हूँ, उनकी स्तुति करता हूँ और उन्हें सम्यक्रूप से भाता हूँ, वैसा बनने की भावना करता हूँ।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ यह ध्यान रखना कि पर को नमस्कार करने का जो विकल्प है वह विकल्प मुक्ति का कारण नहीं है। **मुक्ति तो अन्तरंग ज्ञातादृष्टा स्वभाव से चैतन्यमूर्ति निज भगवान आत्मा के भानपूर्वक प्रगट हुई वीतरागता से ही होती है।** इसलिए ऐसे मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ, उनका ही स्तवन करता हूँ और सम्यक्प्रकार से भावना भाता हूँ।

अहो ! ऐसे मुनि भगवंत का मुझे नित्य समागम हो तथा मेरे अन्दर में ऐसी ही वीतरागता प्रगट हो ह्न यही भावना है।[१]''

उक्त छन्द में त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त चित्तवाले मुनिराजों को अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया गया है, उनकी स्तुति करने की भावना व्यक्त की गई है और उसीप्रकार के परिणमन होने की संभावना भी व्यक्त की गई है।।२०४।।

इसके बाद तीन श्लोक (अनुष्टुभ्) हैं, जो इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुभ्)

केचिदद्वैतमार्गस्थाः केचिद् द्वैतपथे स्थिताः।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम्।।२०५।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४१

कांक्षंत्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनौम्यहम्।।२०६।।

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः।।२०७।।

(दोहा)

कोई वर्ते द्वैत में अर कोई अद्वैत।
द्वैताद्वैत विमुक्तमग हम वर्तें समवेत।।२०५।।
कोई चाहे द्वैत को अर कोई अद्वैत।
द्वैताद्वैत विमुक्त जिय मैं वंदूँ समवेत।।२०६।।

(सोरठा)

थिर रह सुख के हेतु अज अविनाशी आत्म में।
भाऊँ बारंबार निज को निज से निरन्तर।।२०७।।

कई लोग अद्वैत मार्ग में स्थित हैं और कई लोग द्वैत मार्ग में स्थित हैं; परन्तु हम तो द्वैत और अद्वैत मार्ग से विमुक्त मार्ग में वर्तते हैं।

कई लोग अद्वैत की चाह करते हैं और कई लोग द्वैत को चाहते हैं, किन्तु मैं तो द्वैत और अद्वैत मार्ग से विमुक्त मार्ग को नमन करता हूँ।

सुख की आकांक्षा रखनेवाला आत्मा अर्थात् मैं अजन्मे और अविनाशी अर्थात् जन्म-मरण से रहित अनादि-अनंत निज आत्मा को आत्मा द्वारा, आत्मा में स्थित रखकर बारम्बार भाता हूँ।

उक्त छन्दों का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

'''**मैं एक अद्वैत हूँ' ह्न ऐसा विकल्प वह राग है तथा 'मैं गुणी और ज्ञान आदि मेरे गुण हैं' ह्न इसप्रकार द्वैत का विकल्प वह भी राग है ह्न ये दोनों विषमभाव हैं।** द्वैत-अद्वैत दोनों के विकल्प से रहित होकर मैं तो चैतन्य में वर्तता हूँ। विकल्परहित स्थिरभाव ही सामायिक है ह्न यह बात इस श्लोक में कही है।[१]

मैं द्वैत-अद्वैत के विकल्प की भावना नहीं भाता हूँ। मैं तो द्वैत-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४२

अद्वैत के विकल्प के राग से रहित शुद्ध आत्मा को ही नमस्कार करता हूँ ह्र भाता हूँ; शुद्ध आत्मा में ही परिणमता हूँ।

'शुद्ध आत्मा की इच्छा करता हूँ' ह्र ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'शुद्ध आत्मा को नमस्कार करता हूँ ह्र शुद्ध आत्मा में नमता हूँ अर्थात् उसमें ही एकाग्र होता है' ह्र ऐसा कहा। बाहर में भगवान को नमस्कार करने का भाव पुण्य है, उसे भगवान ने सामायिक नहीं कहा है। **भगवान ने तो चैतन्यस्वरूप वीतराग भाव में स्थिर होने को ही सामायिक कहा है।**[1]

जिसप्रकार ओखली तो स्थिर रहती है और मूसल बारंबार पलटता अर्थात् ऊपर-नीचे आता जाता है, उसीप्रकार चैतन्य में ध्रुवस्वभाव तो स्थिर रहता है और पर्यायें बारंबार पलटती हैं। उस पर्याय के द्वारा मैं बारंबार चैतन्यस्वभाव की भावना भाता हूँ। चैतन्यस्वभाव की भावना का नाम ही सामायिक हैं तथा यह सामायिक ही मुक्ति का कारण है।[2]''

उक्त तीनों छन्दों में द्वैत और अद्वैत के विकल्पजाल से मुक्त भगवान आत्मा को प्राप्त करने की भावना भायी गयी है ।।२०५-२०७।।

इसके बाद आनेवाले दो शिखरिणी छन्द इसप्रकार हैं ह्र

(शिखरिणी)

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरैः
अखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषयः।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिदचिरात्
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम् ।।२०८।।
सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं
शुभाभावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो बाढमिह नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ।।२०९।।

(हरिगीत)

संसार के जो हेतु हैं इन विकल्पों के जाल से।
क्या लाभ है हम जा रहे नयविकल्पों के पार अब।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४३ २. वही, पृष्ठ १०४४

नयविकल्पातीत सुखमय अगम आतमराम को।
वन्दन करूँ कर जोड़ भवभय नाश करने के लिए।।२०८।।
अच्छे बुरे निजकार्य से सुख-दुःख हों संसार में।
पर आतमा में हैं नहीं ये शुभाशुभ परिणाम सब।।
क्योंकि आतमराम तो इनसे सदा व्यतिरिक्त है।
स्तुति करूँ मैं उसी भव से भिन्न आतमराम की।।२०९।।

संसार को बढ़ानेवाले इन विकल्प कथनों से बस होओ, बस होओ। समस्त नयसमूह का अविषय यह अखण्डानन्दस्वरूप आत्मा द्वैत या अद्वैतरूप नहीं है; द्वैत और अद्वैत संबंधी विकल्पों से पार है।

इस एक निज आत्मा को मैं भवभय का नाश करने के लिए बारम्बार वंदन करता हूँ।

संसार में चार गति और ८४ लाख योनियों में होनेवाले सुख-दुख, पुण्य-पाप से होते हैं। यदि निश्चयनय से विचार करें तो शुभ और अशुभपरिणति आत्मा में है ही नहीं; क्योंकि इस लोक में एकरूप आत्मा को भव (संसार) का परिचय ही नहीं है।

इसलिए मैं शुभ-अशुभ, राग-द्वेष आदि भव गुणों अर्थात् विभावभावों से रहित निज शुद्ध आत्मा का स्तवन करता हूँ।

उक्त दो छन्दों का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''आत्मा तो अखण्ड आनन्दस्वरूप विकल्पातीत है, समस्त विकल्पों से अगोचर है तथा स्वभाव से स्वयं सिद्ध अखण्ड आनन्द की मूर्ति है।[1]

आत्मा तो द्वैत-अद्वैत के विकल्प से पार अवर्णनीय है। यहाँ अवर्णनीय कहने से सर्वथा अवर्णनीय नहीं समझना चाहिए; क्योंकि आत्मा वाणी से कथंचित् कहा भी जाता है; परन्तु वह वाणी के द्वारा पकड़ने में नहीं आता, इसलिए उसे यहाँ अवर्णनीय कहा है।

शीघ्र भव-भय का नाश करने के लिए मैं ऐसे एक आत्मा का

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४५

अन्तर से सत्कार करता हूँ ह्व आदर करता हूँ ह्व नमस्कार करता हूँ, इसका नाम सामायिक है।[1]

आत्मा तो पुण्य-पाप रहित है, उसे निश्चय से चार गति का भ्रमण नहीं है, उसके स्वभाव में भव नहीं है ह्व ऐसे **स्वभाव को स्वीकार करते ही ह्व प्रतीति में लेते ही सम्यक्त्व प्रगट होता है, तत्पश्चात् ही सामायिक होता है।** यदि तुझे सामायिक करनी है तो ऐसे त्रिकाली आत्मा की प्रतीति कर ह्व उसका परिचय कर; निश्चय से देखा जाय तो चिदानन्द स्वरूप आत्मा में शुभ-अशुभ परिणति का तो अभाव ही है।[2]

उन समस्त विकारी भावों की वासना का चैतन्यस्वरूप में त्याग है। ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप का मैं स्तवन करता हूँ ह्व आदर करता हूँ ह्व उसी में स्थिर होता हूँ। इसप्रकार शुद्धात्मा का स्तवन ही वास्तविक सामायिक है।[3]''

इन छन्दों में भी वही द्वैत-अद्वैत के भेदभावों से रहित आत्मा के आराधना की बात कही गई है।।२०८-२०९।।

इसके बाद आनेवाले दो छन्द इसप्रकार हैं ह्व

(मालिनी)

इदमिहमघसेनावैजयन्तीं हरेत्तां
स्फुटितसहजतेज:पुंजदूरीकृतांह:।
प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम्।।२१०।।

(पृथ्वी)

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम्।
विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्तत:
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम्।।२११।।

---
१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४५
२. वही, पृष्ठ १०४७ ३. वही, पृष्ठ १०४७

(हरिगीत)

प्रगट अपने तेज से अति प्रबल तिमिर समूह को।
दूर कर क्षणमात्र में ही पापसेना की ध्वजा।।
हरण कर ली जिस महाशय प्रबल आतमराम ने।
जयवंत है वह जगत में चित्चमत्कारी आतमा।।२१०।।
गणधरों के मनकमल थित प्रगट शुध एकान्तत:।
भवकारणों से मुक्त चित् सामान्य में है रत सदा।।
सद्दृष्टियों को सदागोचर आत्ममहिमालीन जो।
जयवंत है भव अन्तकारक अनघ आतमराम वह।।२११।।

प्रगट हुए सहज तेजपुंज द्वारा, अति प्रबलमोहतिमिर समूह को दूर करनेवाला तथा पुण्य-पापरूपी अघसेना की ध्वजा का हरण करने वाला सदा शुद्ध, चित्चमत्कारमात्र आत्मतत्त्व जगत में नित्य जयवंत है।

जिसने संसार का अस्त किया है, जो महामुनिराजों के नायक गणधरदेव के हृदय कमल में स्थित है, जिसने भव के कारण को छोड़ दिया है, जो पूर्णत: शुद्ध प्रगट हुआ है तथा जो सदा निजमहिमा में लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को गोचर है; वह पुण्य-पाप से रहित आत्मतत्त्व जयवंत है।

इन छन्दों का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्व

''अहो! आत्मा चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व सदा शुद्ध-शुद्ध है। त्रिकाली द्रव्य तो शुद्ध है ही, उसके साथ कारणरूप पर्याय भी त्रिकाल शुद्ध है। ऐसा महिमावंत चैतन्यचमत्कार तत्त्व जगत में सदा जयवंत वर्तता है। **जहाँ चैतन्य चमत्कार है, वहाँ नमस्कार करो।**[1]

मुनिराज कहते हैं कि तुम्हारे अन्तर में जो सहज चैतन्य-स्वरूप निजतत्त्व वर्त रहा है, उसका अनुभव करो। तुम्हारे अन्दर में ही जो परमात्मशक्ति भरी है, तुम उसी को देखो ह्व उसी को अनुभवो।[2]

आत्मतत्त्व अन्तर में सहज शुद्ध ज्यों का त्यों विराजमान है तथा

---
१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४८ २. वही, पृष्ठ १०५०

सम्यग्दृष्टि आदि समस्त धर्मात्माओं के ज्ञानगोचर है, इन्द्रिय गोचर नहीं है।[१]

इस समाधि अधिकार में सामायिक का वर्णन करके यह बता दिया है कि समाधि और सामायिक दो भिन्न-भिन्न नहीं हैं, परन्तु एक ही हैं। चैतन्य को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होने पर जो परम वीतरागी शान्ति का अनुभव होता है, वही सामायिक है और वही समाधि (समता) है।[२]''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि लोक में तो अघ पाप को कहते हैं, पर आप यहाँ अघ का अर्थ पुण्य-पाप के भाव कर रहे हैं। इसका क्या कारण है ?

यद्यपि लोक में अघ शब्द का अर्थ मात्र पाप किया जाता है; तथापि जिसप्रकार क का अर्थ पृथ्वी, ख का अर्थ आकाश होता है; उसीप्रकार घ का अर्थ भी आत्मा होता है। अत: आत्मा के आश्रय से उत्पन्न वीतरागभाव के अभावरूप शुभाशुभरागरूप पुण्य-पाप के भाव अघ कहे जाते हैं। इसप्रकार पुण्य-पाप ह्न दोनों अघ हैं।

इसप्रकार इन आठ छन्दों में अत्यन्त भावविभोर होकर सहज-वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि टीकाकार मुनिराज श्रीपद्म-प्रभमलधारिदेव निजकारणपरमात्मा के आश्रय की भावना व्यक्त कर रहे हैं।।२१०-२११।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५१ २. वही, पृष्ठ १०५१

> प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है अथवा पर्याय की कर्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीवद्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो ? **ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२८**

नियमसार गाथा १२७

इस गाथा में भी यही बता रहे हैं कि एकमात्र आत्मा ही उपादेय है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१२७।।

(हरिगीत)

आतमा है पास जिनके नियम-संयम-तप विषैं।
उन आत्मदर्शी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१२७।।

जिसे संयम में, नियम में, तप में आत्मा ही समीप है; उसे सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में भी आत्मा ही उपादेय है ह्न ऐसा कहा गया है।

बाह्य प्रपंच से पराङ्गमुख और समस्त इन्द्रियव्यापार को जीतनेवाले जिस भावी जिन को पापक्रिया की निवृत्तिरूप बाह्य संयम में; काय, वचन और मनोगुप्तिरूप समस्त इन्द्रियव्यापार रहित अभ्यन्तर संयम में; मात्र सीमित काल के नियम में; निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप चिन्मय परमब्रह्मस्वरूप में निश्चल आचार में; व्यवहार से विस्तार से निरूपित पंचाचार में; पंचमगति के हेतुभूत, सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, समस्त दुराचार की निवृत्ति के कारणभूत परमतपश्चरण में परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त निजकारणपरमात्मा सदा समीप है; उन परद्रव्य से पराङ्गमुख परम वीतराग सम्यग्दृष्टि एवं वीतराग चारित्रवन्त को सामायिक व्रत स्थायी है ह्न ऐसा केवलियों के शासन में कहा है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''तात्पर्य यह है कि अभ्यन्तर संयम तो निज कारणशुद्धात्मा की समीपता-सन्निकटता में होता ही है, परन्तु बाह्यसंयम भी निज

कारणशुद्धात्मा की समीपता-सन्निकटता पूर्वक ही होता है। **यदि एक समय के लिए भी अन्तर में शुद्धात्मा का आश्रय छूट जाये तो फिर बाह्य अथवा अभ्यन्तर कोई भी संयम नहीं रहता।**[१]

जो जीवनपर्यन्त के लिए होते हैं उसे यम कहते हैं; जैसे ह्न महाव्रतादि। तथा जिसमें काल की मर्यादा होती है, उसे नियम कहते हैं; जैसे ह्न आहार हेतु पड़गाहने वाला हाथ में थाल और थाल में बादाम लेकर खड़ा हो तो ही आहार लेना, अन्यथा नहीं लेना आदि।

यहाँ तो यह कहते हैं कि ऐसे नियम और यम में भी आत्मा की ही समीपता वर्तती है। इसीप्रकार निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप अन्तरंग-निश्चय आचार में भी आत्मा का ही आश्रय वर्तता है अर्थात् उसकी समीपता कभी नहीं छूटती।

दर्शन के निशंकतादि आठ आचारों में, ज्ञान के विनयादि आठ आचारों में भी एक शुद्धात्मा की ही मुख्यता वर्तती है, विकल्प की मुख्यता नहीं वर्तती। चारित्र, तप, वीर्य आदि आचारों में भी राग की मुख्यता नहीं है; परन्तु एक शुद्धात्मा की ही मुख्यता है, उसी का अवलम्बन है, उसी का आश्रय है।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि भावलिंगी मुनिराजों को होनेवाले अन्तर्बाह्य यम, नियम, संयम, तप आदि सभी भावों में एकमात्र आत्मा की आराधना ही मुख्य रहती है। **आत्मा की आराधना से ये सभी सनाथ हैं, उसके बिना इनका कोई अर्थ नहीं है।।१२७।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(मंदाक्रान्ता)

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्टत्युच्चैः परमयमिनः शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत्।
तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे।।२१२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५३-१०५४ २. वही, पृष्ठ १०५४

(हरिगीत)

शुद्ध सम्यग्दृष्टिजन जाने कि संयमवंत के।
तप-नियम-संयम-चरित में यदि आतमा ही मुख्य है।।
तो सहज समताभाव निश्चित जानिये हे भव्यजन।
भावितीर्थंकर श्रमण को भवभयों से मुक्त जो।।२१२।।

यदि शुद्धदृष्टिवाले सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा समझते हैं कि परममुनियों के तप में, नियम में, संयम में और सच्चारित्र में सदा एक आत्मा ही ऊर्ध्व रहता है; तो यह सिद्ध होता है कि राग के नाश के कारण उस संसार के भय का हरण करनेवाले भविष्य के तीर्थंकर भगवन्त को सहज समता साक्षात् ही है, निश्चित ही है।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इससे सम्यग्दृष्टी ऐसा समझता है कि राग के नाश को प्राप्त भव-भयहर भावी तीर्थाधिनाथ को यह साक्षात् सहज-समता निश्चित है। देखो, **तीर्थंकर चारित्र लेने के बाद वापस निचली भूमिका में नहीं आते। तीर्थंकर नामकर्म के बँधने के बाद अगले भव में भी सम्यग्दर्शन नहीं छूटता। कोई जीव तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध के बाद दूसरे या तीसरे नरक में भी जाये तो वहाँ भी मात्र अन्तर्मुहूर्त काल के बाद पुनः सम्यग्दर्शन हो जाता है।** तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन का विरह वहाँ भी अधिक काल नहीं होता।

भावी तीर्थंकर भवभयहर हैं, इसलिए उन्हें तीर्थंकर नामकर्म बँधने के बाद दो भव से अधिक भव धारण नहीं करने पड़ते। ह्न ऐसे भवभय के हरनेवाले भावी तीर्थाधिनाथ को राग के नाशपूर्वक साक्षात् समता अवश्य होती है।[१]''

टीका और टीका में समागत उक्त छन्द में यह ध्वनित होता है कि टीकाकार को ऐसा विश्वास है कि वे भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं; इसकारण ही वे भावि तीर्थनाथ को याद करते हैं; क्योंकि उक्त स्थिति तो सभी तीर्थकरों की होती है; तब फिर वे भावी तीर्थाधिनाथ को दो-दो बार क्यों याद करते हैं।।२१२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५८

नियमसार गाथा १२८

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेइ दु।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१२८।।

(हरिगीत)

राग एवं द्वेष जिसका चित्त विकृत न करें।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१२८।।

जिसे राग या द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते; उसे सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

टीकाकार मुनिराज इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ यह कह रहे हैं कि राग-द्वेष के अभाव से अपरिस्पंदरूपता, समता, अकंपता, अक्षुब्धता होती है।

पापरूपी अटवी (भयंकर जंगल) को जलाने में अग्नि समान जिस परम वीतरागी संयमी को राग-द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते; उस पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी आनन्द के अभिलाषी जीव को सामायिक नाम का व्रत शाश्वत है ह्न ऐसा केवलियों के शासन में प्रसिद्ध है।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप समाधि ही सामायिक है। और ऐसा सामायिक उन्हें होता है, जिन्हें राग-द्वेषरूपी विकृति उत्पन्न नहीं होती। **सहज स्वभाव में स्थिर होने पर राग-द्वेष भाव उत्पन्न ही नहीं होते। और राग-द्वेष का उत्पन्न नहीं होना ही सामायिक है।**

यहाँ जो अपरिस्पंदता अर्थात् स्थिरतारूप समताभाव कहा है; वह राग-द्वेष के अभावरूप अपरिस्पंदता की बात जानना, योगजनित अपरिस्पंदता की नहीं।[1]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५९

जिन संयमी वीतरागी मुनि के राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, उन महा-आनन्द के अभिलाषी जीवों को ही सामायिक व्रत शाश्वत है। उनके ऐसी अतीन्द्रियता प्रगट हो गई है कि उन्हें पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र परिग्रह है। जिनके आत्मा में राग-द्वेषरूप विकृति नहीं है और देह की दिगम्बर दशा में भी विकृति नहीं है ह्न ऐसे महामुनि के स्थायी सामायिक होता है। ह्न ऐसा केवली भगवान के शासन में प्रसिद्ध है।

श्रावक के भी राग-द्वेष रहित चैतन्यस्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति पूर्वक जितना भाव प्रगट होता है, उतना सामायिक है; परन्तु **चैतन्य की प्रतीति बिना मात्र राग को केवली के शासन में सामायिक नहीं कहा गया है।**[1]''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि जिन वीतरागी सन्तों को राग-द्वेष भाव, विकृति उत्पन्न नहीं करते; उन्हें सदा सामायिक ही है।।१२८।।

इस गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रान्ता)

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योति:प्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे।
आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
तस्मिन्नित्ये समरससमये को विधि: को निषेध:।।२१३।।

(रोला)

किया पापतम नाश ज्ञानज्योति से जिसने।
परमसुखामृतपूर आतमा निकट जहाँ है।।
राग-द्वेष न समर्थ उसे विकृत करने में।
उस समरसमय आतम में है विधि-निषेध क्या।।२१३।।

जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापसमूहरूप घोर अंधकार का नाश किया

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६०

है, सहज परमानन्द का पूर जहाँ निकट है; वहाँ राग-द्वेष विकृति करने में समर्थ नहीं हैं। उस शाश्वत समरसभावरूप आत्मतत्त्व में विधि क्या और निषेध क्या ? तात्पर्य यह है कि उसे राग-द्वेष नहीं होते हैं।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जब मुनियों के अन्तर में सहज परमानन्दमय आत्मतत्त्व निकट वर्तता है, तब उनके राग-द्वेषरूप विकृति उत्पन्न ही नहीं होती। राग-द्वेष होते हैं, परन्तु वे विकृति नहीं करते ह्न ऐसा नहीं है; परन्तु स्वरूप का आलम्बन करने से राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। ह्न इसका नाम सामायिक है।

आत्मा नित्य समरसमय शाश्वत तत्त्व है, उपशान्त रस का समुद्र है। उसमें विधि क्या और निषेध क्या? **'यह करना है और यह छोड़ना है' ह्न ऐसे विकल्प भी सहज समरसी आत्मतत्त्व में नहीं हैं।** इसलिए उस सहजतत्त्व में लीन मुनियों के विधि-निषेध के विकल्परहित साम्यभावरूप सामायिक होता है।[१]

स्वरूप में स्थिर होते ही ग्रहण करने योग्य ऐसे निजस्वरूप का ग्रहण हो गया और छोड़ने योग्य ह्न ऐसे राग-द्वेष छूट गये। अतः स्वरूप में विधि-निषेध का क्या काम रहा।

आत्मा के आहार का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं, परन्तु आहार के ग्रहण-त्याग का विकल्प भी आत्मा में नहीं है। 'यह करने लायक है' ऐसा राग तथा 'यह करने लायक नहीं है' ऐसा द्वेष ह्न दोनों ही वस्तु के स्वरूप में नहीं है।[२]''

'यह ऐसा है या हमें ऐसा करना चाहिए' ह्न इसप्रकार के विकल्प विधि संबंधी विकल्प हैं और 'यह ऐसा नहीं है या हमें ऐसा नहीं करना चाहिए' ह्न इसप्रकार के विकल्प निषेध संबंधी विकल्प हैं।

यह आत्मा स्वभाव से तो विकल्पातीत है ही और पर्याय में भी विकल्पातीतदशा को भी प्राप्त हो गया हो तो फिर उसमें विधि-निषेध संबंधी विकल्पों को अवकाश ही कहाँ रहता है ?।।२१३।। •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६१-१०६२ २. वही, पृष्ठ १०६२

नियमसार गाथा १२९

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि जो आर्त्त और रौद्रध्यान से रहित है; उसे सामायिक सदा ही है। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१२९।।

(हरिगीत)

आर्त एवं रौद्र से जो सन्त नित वर्जित रहें।
उन आत्मध्यानी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१२९।।

जो आर्त्त और रौद्रध्यान को सदा छोड़ता है; उसे सामायिक व्रत स्थायी है ह्न ऐसा केवली शासन में कहा गया है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह आर्त्त और रौद्रध्यान के परित्याग द्वारा सनातन सामायिक व्रत के स्वरूप का कथन है।

नित्य निरंजन निजकारणपरमात्मा के स्वरूप में नियत, शुद्धनिश्चय परमवीतराग सुखामृत के पान में परायण जो जीव तिर्यंच योनि, प्रेतवास व नरकादि गति की योग्यता के हेतुभूत आर्त्त व रौद्र ह्न इन दो ध्यानों को नित्य छोड़ता है; उसे वस्तुतः केवलदर्शन सिद्ध शाश्वत सामायिक व्रत है।''

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सामायिक तो एकमात्र आत्मस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ वीतरागी समभाव ही है; परन्तु उसका वर्णन परपदार्थों के त्याग की अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूप में किया गया है।

इससे पिछली १२८वीं गाथा में राग-द्वेष भाव के उत्पन्न न होने को सामायिक कहा था और अब यहाँ आर्त-रौद्र ध्यान के त्याग से उत्पन्न वीतरागी समभाव को सामायिक कहा जा रहा है।[१]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६३

इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना और निदान के निमित्त से जो खेदरूप परिणाम होते हैं, वे आर्त्तध्यान हैं और निर्दयता/क्रूरता में होने वाले आनन्दरूप परिणाम रौद्रध्यान हैं। आर्त्तध्यान को शास्त्रों में तिर्यंच गति का कारण बताया गया है और रौद्रध्यान को नरकगति का कारण कहा गया है।[१] यहाँ इनके फल में प्रेतयोनि को भी जोड़ दिया है।

जिनके ये आर्त्त और रौद्रध्यान नहीं होंगे, उनके धर्मध्यान और शुक्लध्यान होंगे। धर्म और शुक्लध्यान को मोक्ष का कारण कहा गया है।[२] इससे यह सहज ही सिद्ध है कि जिनके आर्त्त और रौद्रध्यान नहीं होंगे; उनके मोक्षप्राप्ति की हेतुभूत सामायिक सदा होगी ही ।।१२९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(आर्या)

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति ।
यस्त्यजति मुनिर्नित्यं ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम् ।।२१४।।

(सोरठा)

जो मुनि छोड़े नित्य आर्त्त-रौद्र ये ध्यान दो।
सामायिकव्रत नित्य उनको जिनशासन कथित ।।२१४।।

इसप्रकार जो मुनिराज आर्त्त और रौद्र नाम के दो ध्यानों को छोड़ते हैं; उन्हें जिनशासन में कहे गये अणुव्रतरूप सामायिक व्रत होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि मुनिराजों की सामायिक (आत्मध्यान) को यहाँ अणुव्रत क्यों कहा जा रहा है ?

उक्त संदर्भ में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है ह्न

''वीतरागी मुनिराज स्व-विषय के ग्रहणपूर्वक पर-विषय को छोड़ते हैं। स्व-विषय में लीन होने पर उनके आर्त-रौद्र ध्यान के परिणाम उत्पन्न ही नहीं होते ह्न ऐसे वीतरागी मुनिराजों को अणुव्रतरूप सामायिक सदा होता है।

१. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ६, सूत्र १५ व १६ की टीका
२. वही, अध्याय ९, सूत्र २९

यहाँ अणुव्रत का अर्थ श्रावक के व्रत नहीं है, बल्कि पूर्ण यथाख्यातचारित्र न होने के कारण ही यहाँ मुनिराज के सामायिकव्रत को अणुव्रत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ आत्मा में पूर्ण लीनता न होने के कारण अपूर्ण ह्न अणुव्रत कहा गया है। ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में सामायिकचारित्र नहीं होता, वहाँ तो यथाख्यात-चारित्र होता है।

यहाँ यथाख्यात परिपूर्ण चारित्र का अभाव है ह्न इस अपेक्षा मुनि के सामायिक को भी अणुव्रत कहा है ह्न ऐसा समझना। ह्न यह अणुव्रत भी वीतरागी हैं, यह शुभरागात्मक व्रतों की बात नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में जिन व्रतों का वर्णन शुभास्रव के रूप में किया है, यहाँ उनकी बात नहीं है। वह तो शुभराग है और यह तो मोक्ष के कारणरूप निर्विकल्प वीतरागी निश्चयव्रत की बात है।[१]''

श्रावकों के बारह व्रतों में एक सामायिक नामक शिक्षाव्रत है और श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में तीसरी प्रतिमा का नाम भी सामायिक है। उनकी चर्चा यहाँ नहीं हैं।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के जो ग्यारह प्रतिमायें होती हैं; उनमें दूसरी प्रतिमा में बारह व्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ह्न इसप्रकार कुल बारह व्रत होते हैं।

सामायिक नाम का व्रत अणुव्रतों में नहीं है, शिक्षा व्रतों में है। इसलिए यहाँ प्रयुक्त अणुव्रत का संबंध श्रावक के अणुव्रतों से होना संभव ही नहीं है।

जैसा कि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने कहा कि यहाँ उल्लिखित सामायिक व्रत को अणुव्रत यथाख्यातचारित्र की अपेक्षा कहा है। अत: स्वामीजी का यह कथन आगमसम्मत और युक्तिसंगत ही है।।२१४।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६५-१०६६

नियमसार गाथा १३०

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि पुण्य-पापरूप विकारीभावों को छोड़नेवाले को सदा सामायिक है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्र

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१३०।।

(हरिगीत)

जो पुण्य एवं पाप भावों के निषेधक हैं सदा।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१३०।।

जो पुण्य और पापरूप भावों को सदा छोड़ता है, उसे सामायिक स्थायी है ह्र ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''यह शुभाशुभ परिणामों से उत्पन्न होनेवाले सुकृत-दुष्कृतरूप (पुण्य-पापरूप ह्र भले-बुरे कार्यरूप) कार्यों से संन्यास की विधि का कथन है।

बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागरूप लक्षण से लक्षित (पहिचाने जानेवाले) परमजिनयोगीश्वरों के चरणकमलों का प्रक्षालन, पैरों का दबाना आदि वैयावृत्ति करने से उत्पन्न होनेवाली शुभपरिणति से उपार्जित पुण्यकर्म (शुभकर्म) को तथा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसंबंधी परिणामों से उत्पन्न होनेवाले अशुभकर्म (पापकर्म) को; सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि मुनिराज छोड़ते हैं; क्योंकि ये दोनों शुभाशुभ पुण्य-पापकर्म संसाररूपी स्त्री के विलास के विभ्रम की जन्मभूमि के स्थान हैं।

शुभाशुभकर्म को, पुण्य-पाप के भावों को छोड़नेवाले परम वीतरागी सन्तों के केवलीमत सम्मत, सामायिक व्रत नित्य है।''

उक्त गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''सामायिक कहो, समाधि कहो या आत्मशान्ति कहो ह्र सभी एकार्थवाची है। समस्त शुभाशुभभाव तो नये कर्मबंध में कारण हैं, उन्हें छोड़कर आत्मा में एकाग्र होना सामायिक है। **पुण्य-पापभाव में तो शान्ति है ही नहीं, उसके फल में भी शान्ति नहीं है।**[१]

यहाँ पुण्य की बात में भी लोकोत्तर मुनिराज की सेवा-भक्ति की बात ली है, लौकिक सेवा की बात नहीं की। मुनिराज तो धर्म के उत्कृष्ट निमित्त हैं, इसलिए यहाँ मुनिराज की उत्कृष्ट बात ही ली है।

गृहस्थ तो मुनिराज की सेवा-भक्ति करते ही हैं; परन्तु एक मुनिराज भी दूसरे मुनिराज की सेवा करते हैं, पैर दबाते, शरीर साफ करते इत्यादि अनेक प्रकार से वैयावृत्ति करते हैं, यह भी शुभराग ही है। इस राग की कीमत मात्र इतनी ही है कि संसार में पुण्य मिले; परन्तु इस राग में आत्मा की शान्ति नहीं है।[२]

गृहस्थ दशा में हो और महावीतरागी मुनिराज के प्रति भक्ति का भाव न आवे तो वह स्वच्छन्दी है और उस शुभभाव में ही धर्म मान ले तो वह भी अज्ञानी ही है।[३]

हिंसादि अशुभभाव तथा भक्त्यादि शुभभाव ह्र ये दोनों ही भाव संसाररूपी स्त्री के विलास विभ्रम की जन्मभूमि है। अर्थात् **पुण्य-पाप दोनों से समता उत्पन्न नहीं होती, परन्तु परिभ्रमणरूपी स्त्री के विलास का जन्म होता है।**

तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप दोनों का फल संसार है और चिदानन्द स्वभावी शुद्धकारण परमात्मा का फल परम समता है। ह्र ऐसा जानकर **स्वभाव में एकाग्रता करना सामायिक है। जिसे देह से भिन्न चैतन्य का भान नहीं है, उसे सामायिक नहीं होता।**[४]''

गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आदि के शुभभावों से उत्पन्न पुण्य और हिंसादि पापभावों से

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६८-१०६९
२. वही, पृष्ठ १०६९-१०७०
३. वही, पृष्ठ १०७०
४. वही, पृष्ठ १०७०-१०७१

उत्पन्न होनेवाले पाप ह्न इन दोनों भावों से विरक्त-रहित सन्तों के नित्य सामायिक ही है ह्न ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।१३०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रान्ता)

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्मूलभूतं
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम् ।
तस्मिन् सद्दग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनः स्यात् ।।२१५।।

(हरिगीत)

संसार के जो मूल ऐसे पुण्य एवं पाप को।
छोड़ नित्यानन्दमय चैतन्य सहजस्वभाव को ।।
प्राप्त कर जो रमण करते आत्मा में निरंतर।
अरे त्रिभुवनपूज्य वे जिनदेवपद को प्राप्त हों।।२१५।।

सम्यग्दृष्टि जीव संसार के मूलभूत पुण्य-पापभावों को छोड़कर नित्यानन्दमय, सहज, शुद्धचैतन्यरूप जीवास्तिकाय को प्राप्त करता है; उसी में सदा विहार करता है और फिर तीनों लोक के जीवों से पूजित होता हो ह्न ऐसा जिनदेव बनता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सम्यग्दृष्टि पुण्य को छोड़कर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करता है, वह जानता कि पुण्य से आत्मा की प्राप्ति होनेवाली नहीं है। ह्न इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध जीवास्तिकाय को प्राप्त करके सदा उसी में विहार करता है अर्थात् उसी में एकाग्रता के द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके; वह जीव तीनलोक का नाथ हो जाता है। तीन लोक के जीव उसके चरण कमल की पूजा करते हैं।[1]

अरे भाई! जिसने पुण्य को छोड़ दिया है, उसे भी साधकदशा में

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०७२

ऐसा पुण्य बंध जाता है कि वह तीन लोक से पूज्य होता है। देखो, यह सामायिक का फल! सामायिक का फल तो केवलज्ञान प्रगट करके जिन बनना है। स्वर्गादि मिलना ह्न वह सामायिक का फल नहीं है, वह तो राग का फल है।[1]''

उक्त छन्द में यह बताया गया है कि भवदुःखों के मूल कारण पुण्य-पापभावों का त्याग कर शुद्धजीवास्तिकाय अर्थात् ज्ञानानन्द-स्वभावी निज भगवान आत्मा में जमने-रमनेवाले जीव अनंतसुखस्वरूप सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं ।।२१५।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

स्वतःसिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्यदहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतरतेजोमयमिदम् ।
विनिर्मुक्तेर्मूलं निरुपधिमहानंदसुखदं
यजाम्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम् ।।२१६।।

(हरिगीत)

पुनपापरूपी गहनवन दाहक भयंकर अग्नि जो।
अर मोहतम नाशक प्रबल अति तेज मुक्तीमूल जो।।
निरुपाधि सुख आनन्ददा भवध्वंस करने में निपुण।
स्वयंभू जो ज्ञान उसको नित्य करता मैं नमन ।।२१६।।

यह स्वत:सिद्ध ज्ञान पाप-पुण्यरूपी वन को जलानेवाली अग्नि है, महामोहान्धकार को नाश करनेवाले अतिप्रबलतेज से सहित है, मुक्ति का मूल है और वास्तविक आनन्द को देनेवाला है। संसार का नाश करने में निपुण इस ज्ञान को मैं नित्य पूजता हूँ।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्वत:सिद्ध, अनादि-अनन्त, ज्ञानमूर्ति आत्मा पुण्य-पापरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि समान है।[2]

चैतन्यज्योति अग्नि है तो पुण्य-पाप ईंधन हैं। अज्ञानी जीव को

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०७२ २. वही, पृष्ठ १०७३

पुण्य-पापरूपी धुएँ के कारण मूल चैतन्य वस्तु दिखाई नहीं देती; परन्तु चैतन्य का तेज ऐसा होता है कि उसमें पुण्य-पापरूपी धुआँ होता ही नहीं है। ऐसे त्रिकाली महातेज स्वरूप आत्मा में एकाग्र होने पर पर्याय में भी पुण्य-पापरूपी धुएँ की उत्पत्ति ही नहीं होती।[1]

आत्मा मुक्ति का मूल है, निरुपाधि है, सच्चे आनन्द को देनेवाला है। जब जीव ऐसे आत्मा में स्थिर होता है, तब वह स्वयं ही महा-आनन्द सुख को प्राप्त होता है, वह सुख कहीं बाहर से नहीं आता।[2]

अपने चिदानन्द भगवान को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर निर्मल परिणति द्वारा उसकी पूजा करना अर्थात् उसमें एकाग्रता करना ही सामायिक है और वही मुक्ति का कारण है।[3]''

इस छंद में **स्वत:सिद्ध ज्ञान को मोहांधकार का नाश करनेवाला, मुक्तिमार्ग का मूल, सच्चा सुख प्राप्त करानेवाला कहा गया है।** संसारदुख से बचने के लिए उस ज्ञान की आराधना करने की बात कही गयी है।।२१६।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवधू-
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनितसौख्याकुलमतिः।
क्वचिद् भव्यत्वेन व्रजति तरसा निर्वृतिसुखं
तदेकं संत्यक्त्वा पुनरपि स सिद्धो न चलति।।२१७।।

(हरिगीत)

आकुलित होकर जी रहा जिय अघों के समुदाय से।
भववधू का पति बनकर काम सुख अभिलाष से।।
भव्यत्व द्वारा मुक्ति सुख वह प्राप्त करता है कभी।
अनूपम सिद्धत्वसुख से फिर चलित होता नहीं।।२१७।।

यह जीव शुभाशुभकर्मों के वश संसाररूप स्त्री का पति बनकर कामजनित सुख के लिए आकुलित होकर जी रहा है। यह जीव कभी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०७३
२. वही, पृष्ठ १०७४
३. वही, पृष्ठ १०७४

भव्यत्व शक्ति के द्वारा निवृत्ति (मुक्ति) सुख को प्राप्त करता है; उसके बाद उक्त सिद्धदशा में प्राप्त होनेवाले सुख से कभी वंचित नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि सिद्धदशा के सुख में रंचमात्र भी आकुलता नहीं है; अत: उसमें यह जीव सदा तृप्त रहता है, अतृप्त होकर आकुलित नहीं होता।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो ज्ञानानन्द चैतन्य का स्वामी नहीं होता, वह अपने को पुण्य-पाप स्वरूप मानकर संसाररूपी स्त्री का स्वामी होता है। तात्पर्य यह है कि वह संसार में विषयाकुल होकर परिभ्रमण करता है। अपने चैतन्य-स्वभाव को चूककर विषयभोग जनित सुख के लिए आकुलित होकर जीता है। जो एक बार उसे छोड़कर चैतन्यस्वरूप की दृष्टि करे और उसी में ठहर जाये, तो मुक्तिरूपी स्त्री का स्वामी हो जाता है; तथा फिर वह सादि अनन्तकाल तक उससे कभी भी च्युत नहीं होता है।

इसप्रकार शुभ-अशुभ दोनों का त्याग करके अपने चैतन्यस्वभाव में स्थिर होना ही सामायिक है।[1]

सम्पूर्ण जगत से उदासीन होकर स्वभाव में ही मेरा सुख है ह्न ऐसी स्वयं की भव्यता द्वारा ह्न योग्यता द्वारा जीव शीघ्र मोक्ष सुख को पाता है। जो जीव अनादिकाल से रखड़ रहा है। वही जीव अपनी पात्रता से ह्न स्वभाव-सन्मुख पुरुषार्थ से शीघ्र मोक्षसुख प्राप्त करता है। सामायिक का ऐसा उत्कृष्ट फल मोक्ष है।

अपने भव्यत्व द्वारा ही जीव मोक्ष प्राप्त करता है ह्न ऐसा कहा; परन्तु ऐसा नहीं कहा कि कर्म के अभाव से या निमित्त से मोक्ष प्राप्त करता है।[2]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि यद्यपि यह जीव अनादिकाल से सांसारिक सुख प्राप्त करने के लिए आकुलित हो रहा है; तथापि **कभी भव्यत्वशक्ति के विकास से काललब्धि आने पर सच्चे सुख को प्राप्त करता है तो फिर अनंतकाल तक अत्यन्त तृप्त रहता हुआ स्वयं में समाधिस्थ रहता है।।२१७।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०७५
२. वही, पृष्ठ १०७६

नियमसार गाथा १३१-१३२

अब इन दो गाथाओं में नोकषायों को छोड़नेवाले जीव सदा सामायिक में रहते हैं ह्न यह बताते हैं। गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१३१।।
जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१३२।।

(हरिगीत)

जो रहित हैं नित रति-अरति उपहास अर शोकादि से।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१३१।।
जो जुगुप्सा भय वेद विरहित नित्य निज में रत रहें।
उन वीतरागी सन्त को जिन कहें सामायिक सदा।।१३२।।

जो मुनिराज हास्य, रति, अरति, शोक को नित्य छोड़ता है; उसे सामायिक सदा वर्तती है। ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

जो जुगुप्सा, भय और स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेदों को नित्य छोड़ता है; उसे सामायिक सदा होती है। ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इन गाथाओं का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह नौ नोकषायों को जीत लेने से प्राप्त होनेवाले सामायिकचारित्र का कथन है। मोहनीयकर्म से उत्पन्न होनेवाले स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा नामक नौ नोकषायों से होनेवाले कलंकरूपी कीचड़ को अर्थात् समस्त विकारसमूह को परमसमाधि के बल से जो निश्चयरत्नत्रयधारी मुनिराज छोड़ते हैं; उन्हें केवली भगवान के शासन से सिद्ध हुआ परमसामयिक नामक व्रत शाश्वतरूप है ह्न ऐसा इन दो गाथाओं में कहा गया है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह नोकषाय को जीत लेने से प्राप्त होनेवाले सामायिक चारित्र के स्वरूप का कथन है।

जगतदिवाकर, त्रिलोकीनाथ, तीर्थंकर परमात्मा ने सामायिक का स्वरूप ह्न ऐसा कहा है कि 'हास्यादि सभी विकारीभाव मेरे स्वरूप नहीं है' सर्वप्रथम ह्न ऐसा निर्णय करके स्वरूप में स्थिर हो, तो हास्यादि विकारों का अभाव होकर यथार्थ सामायिक प्रगट हो; क्योंकि **यदि हास्यादि भावों को आत्मा से पृथक् न जाने तो उनका कभी भी अभाव नहीं होता।**[१]

वास्तव में प्रथम तो वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान हो, पश्चात् स्वरूप में स्थिरतापूर्वक कषायभावों को उत्पन्न ही न होने दे, उसे ही सामायिकव्रत होता है।[२]

इसप्रकार सहज चैतन्य की श्रद्धारूप दर्शन-समाधि से पहले विकार रहित स्वरूप का निर्णय करना ह्न दर्शनसामायिक है और उसके बाद उसमें लीनतारूप परमसमाधि से निश्चय रत्नत्रयात्मक परम तपोधन समस्त कषायों को छोड़ते हैं, तब परमसामायिक नाम का निश्चयचारित्र होता है ह्न यह सामायिक मोक्ष का कारण है। केवलीभगवान के मत में सिद्ध सामायिक का ऐसा अलौकिक और अद्भुत स्वरूप है।

पर्याय होते हुए भी सामायिक को यहाँ शाश्वत कहा है, क्योंकि वह प्रगट होने के बाद ठेठ मोक्ष तक साथ रहता है।[३]''

उक्त दो गाथाओं में हास्यादि नौ नोकषायों के अभाव से होनेवाली शुद्धपरिणति को सामायिक व्रत अर्थात् परमसमाधि कहा गया है।।१३१-१३२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इस प्रकार है ह्न

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०७९ २. वही, पृष्ठ १०७९ ३. वही, पृष्ठ १०८०

(शिखरिणी)

त्यजाम्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं
मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलिकरम् ।
महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभतरं ।
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसाम् ।।२१८।।

(हरिगीत)

मोहान्ध जीवों को सुलभ पर आत्मनिष्ठ समाधिरत।
जो जीव हैं उन सभी को है महादुर्लभ भाव जो।।
वह भवस्त्री उत्पन्न सुख-दुखश्रेणिकारक रूप है।
मैं छोड़ता उस भाव को जो नोकषायस्वरूप है।।२१८।।

महामोहान्ध जीवों को सदा सुलभ तथा निरन्तर आनन्द में मग्न रहनेवाले समाधिनिष्ठ जीवों को अतिदुर्लभ, संसाररूपी स्त्री से उत्पन्न सुख-दुखों की पंक्ति को करनेवाला यह नोकषायरूप समस्त विकार मैं अत्यन्त प्रमोद से छोड़ता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''कैसी भी प्रशस्त से प्रशस्त कषाय हो, देव-शास्त्र-गुरु के गुणानुराग रूप शुभभाव हो, प्रमोदपूर्वक हास्यभाव हो ह्न इनसे संसार का सुख तो मिलता है, संसार के सुख-दुःख की माला तो मिलती है; पर आत्मिक अतीन्द्रिय सुख नहीं मिलता। अतः ऐसी संसार की जनक समस्त कषायों को मैं प्रमोदपूर्वक छोड़ता हूँ; क्योंकि वे कषायभाव-विकारीभाव मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरा स्वरूप तो आनंदमय है, मैं तो उसी आनंदमय निजस्वरूप में स्थिर होकर सर्वकषायों को प्रमोद से छोड़ता हूँ।

मोहान्ध अज्ञानी जीवों को कषायरूप विकार निरन्तर सुलभ हैं, उन्हें तो चैतन्यात्मा का भान ही नहीं है, वे तो कषाय में ही मग्न रहते हैं; परन्तु जिन्हें चैतन्यात्मा का भान है और जो चैतन्य की समाधि में स्थिर हुए हैं ह्न ऐसे निजानंद में मग्न वीतरागी संतों को कषाय बहुत दुर्लभ है।

तात्पर्य यह है कि स्वरूप के आनंद में मग्न संतों के विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती।

अज्ञानी को विषय-कषाय सुलभ हैं और चैतन्य का आनन्द दुर्लभ है तथा ज्ञानी को चैतन्य का आनन्द सुलभ और विषय-कषाय दुर्लभ है अर्थात् उनके चैतन्यानन्द के कारण विकार उत्पत्ति ही नहीं होती। ह्न इसे ही यहाँ अलंकारपूर्वक कहा है।[१]''

इस कलश में सबकुछ मिलाकर एक ही बात कही गई है कि नौ नोकषायजन्य सांसारिक सुख-दुःख, मोहान्ध अज्ञानीजनों को सदा सुलभ ही हैं; किन्तु समाधिनिष्ठ ज्ञानी धर्मात्मा संतगणों को अति दुर्लभ हैं, असंभव है; क्योंकि वे मोहातीत हो गये हैं, सच्ची सामायिक और समाधि उन्हें ही है।

टीकाकार मुनिराज संकल्प करते हैं कि मैं इन सांसारिक सुख-दुःख के उत्पादक नोकषायरूप समस्त विकारीभावों का अत्यन्त प्रमोद भाव से त्याग करता हूँ।।२१८।।

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०८१

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। अपनी आत्मा को क्षमा करने और क्षमा माँगने का मात्र आशय यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसी में रम जायें। स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा माँगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है।

ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१८५

नियमसार गाथा १३३

यह गाथा परमसमाधि अधिकार के समापन की गाथा है। इसमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान करनेवालों को सामायिक स्थायी है ह्न यह कहा गया है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१३३।।

(हरिगीत)

जो धर्म एवं शुक्लध्यानी नित्य ध्यावें आतमा।
उन वीतरागी सन्त को जिन कहें सामायिक सदा।।१३३।।

जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान को नित्य ध्याता है; उसे सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

‘‘यह परमसमाधि अधिकार के उपसंहार का कथन है।

जो पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन का लोलुपी परमजिन योगीश्वर; अपने आत्मा के आश्रय से होनेवाले निश्चय धर्मध्यान द्वारा तथा सम्पूर्ण विकल्पजाल से मुक्त निश्चय शुक्लध्यान द्वारा; अखण्ड, अद्वैत, चिद्‌विलास लक्षण, अक्षय आनन्द सागर भगवान आत्मा में मग्न होनेवाले, सम्पूर्ण बाह्यक्रियाकाण्ड से पराङ्मुख; शाश्वतरूप स्वात्मनिष्ठ निर्विकल्प परम समाधिरूप सम्पत्ति के कारणभूत, सदा-शिवस्वरूप आत्मा को निरन्तर ध्याता है; उसे वास्तव में जिनेश्वर शासन से निष्पन्न हुआ, नित्य शुद्ध, त्रिगुप्ति द्वारा गुप्त परमसमाधिरूप शाश्वत सामायिक व्रत है।’’

उक्त गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

‘‘बाह्यपदार्थों की रुचि छोड़कर केवलज्ञान का लोलुपी होकर अन्तर में एकाग्र हुए हैं ह्न ऐसे मुनिराजों को धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप

सामायिक होती हैं और जिन्हें बाह्यपदार्थों के प्रति लोलुपता पड़ी है, उनके धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप सामायिक नहीं होती। ज्ञान-दर्शन की उग्र भावनापूर्वक आत्मा में लीन होना ही सामायिक की क्रिया है।

जो मुनिराज बाह्यपदार्थों की रुचि छोड़कर केवलज्ञान का लोलुपी होकर अन्तर में एकाग्र हुए हैं ह्न ऐसे मुनिराजों को धर्मध्यान-शुक्ल-ध्यानरूप सामायिक होती है और जिन्हें बाह्यपदार्थों के प्रति लोलुपता पड़ी है, उनके धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप सामायिक नहीं होती।

ज्ञान-दर्शन की उग्र भावनापूर्वक आत्मा में लीन होना ही सामायिक की क्रिया है।[१]’’

इसप्रकार हम देखते हैं कि सच्ची सामायिक और सच्ची समाधि तो धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लगे सन्तों को ही होती है।।१३३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(मंदाक्रान्ता)

शुक्लध्याने परिणतमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा
धर्मध्यानेप्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन्।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दु:खजालं विशालं
भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूरम्।।२१९।।

(हरिगीत)

इस अनघ आनन्दमय निजतत्त्व के अभ्यास से।
है बुद्धि निर्मल हुई जिनकी धर्म शुक्लध्यान से।।
मन वचन मग से दूर हैं जो वे सुखी शुद्धातमा।
उन रतनत्रय के साधकों को प्राप्त हो निज आतमा।।२१९।।

मन-वचन मार्ग से दूर, अभेद, दु:खसमूह से रहित विशाल आत्म तत्त्व को वे मुनिराज प्राप्त करते हैं कि जो पुण्य-पाप से रहित, अनघ, परमानन्दमय आत्मतत्त्व के आश्रय से धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप शुद्धरत्नत्रयरूप में परिणमित हुए हैं।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०८३

''भगवान आत्मा स्वयं परमानंदमय है, उसमें त्रिकाल आनन्द तथा अमृत भरा है। ह्न ऐसे आनन्द सरोवर में डुबकी लगाकर इसी में लीन होने से जिनकी बुद्धि धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रूप परिणमी है, स्वभाव में स्थिर होते ही जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं ह्न ऐसा शुद्धरत्नत्रयात्मक जीव विशालतत्त्व को अत्यन्त प्राप्त करता है।

प्रश्न :ह्न उस विशालतत्त्व का स्वरूप क्या है?

उत्तर :ह्न अनंत दुःखसमूह से रहित ह्न ऐसे त्रिकालीतत्त्व में तो दुःख है ही नहीं, तथा उसके आश्रय से प्रगट होनेवाली पर्याय में भी दुःख नहीं है और वह परमानंदमय महातत्त्व मन-वचन के मार्ग से अगोचर हैं ह्न ऐसे तत्त्व को, अन्तर में एकाग्रता के द्वारा शुद्धरत्नत्रयात्मक जीव प्राप्त करता है अर्थात् प्रगट करता है।

देखो, इसमें कोई बाह्यक्रिया की चर्चा नहीं; परन्तु परमानंदमय आत्मतत्त्व के आश्रयपूर्वक उसी में बुद्धि को (ज्ञानोपयोग को) लगाना एकाग्र करना ही मोक्ष की क्रिया है। इसके अलावा जितनी भी पुण्य-पाप आदि विकारी क्रियायें हैं, वे सब तो मोक्षमार्ग के विपरीत क्रियायें हैं, मोक्षमार्ग को काटनेवाली क्रियायें हैं।[१]''

धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परिणमित आत्मा ही परमसमाधि में स्थित है; उन्हें सदा सामायिक ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस परमसमाधि अधिकार की बारह गाथाओं में से आरंभ की दो गाथाओं में तो यह कहा है कि जो वचनोच्चारण क्रिया को छोड़कर संयम, नियम, तप तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानपूर्वक वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम-समाधि होती है।

उसके बाद एक गाथा में यह कहा कि समताभाव रहित श्रमण के वनवास, कायक्लेश, उपवास, अध्ययन, मौन आदि सभी क्रियाएँ निरर्थक हैं।

इसके बाद ९ गाथाओं में यह कहा है कि सर्व सावद्य से विरत,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०८५-१०८६

त्रिगुप्तिधारक, इन्द्रियजयी, त्रस-स्थावर जीवों के प्रति समभाव धारक, संयम, नियम और तप में आत्मा के समीप रहनेवाले, राग-द्वेष से अविकृत चित्तवाले, आर्त्त और रौद्रध्यान से बचनेवाले, पुण्य और पाप भाव के निषेधक, नौ नोकषायों से विरत और धर्म व शुक्लध्यान के ध्याता मुनिराजों का सदा ही सामायिक है, एकप्रकार से वे सदा परम समाधि में ही लीन हैं।

सम्पूर्ण अधिकार का सार इस चन्द पंक्तियों में ही समाहित हो जाता है। यदि एक वाक्य में कहना है तो कह सकते हैं कि निश्चय-रत्नत्रय से परिणत तीन कषाय के अभावरूप शुद्ध परिणतिवाले सम्यग्दृष्टि भावलिंगी संत और शुद्धोपयोगी संत ह्न ये सभी सदा सामायिक में ही है, सदा समाधिस्थ ही हैं।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि शुद्धोपयोगदशा में तो सभी सन्त समाधिस्थ हैं ही, **तीन कषाय के अभाव से उत्पन्न शुद्धपरिणति वाले संत शुभोपयोग के काल में भी समाधिस्थ ही हैं, सदा सामायिक में ही हैं। यहाँ यह अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है।**

एक बात और भी समझने लायक है कि ऐसा नहीं है कि आँखें बन्द कर बैठ गये और सामायिक या समाधि हो गई। सदा सामायिक या समाधिवाले व्यक्ति को सर्व सावद्य से विरत, त्रिगुप्ति का धारक, इन्द्रियजयी, त्रस-स्थावर जीवों के प्रति समभाव का धारक, संयम, नियम और तप में आत्मा के समीप रहनेवाला, राग-द्वेष से अविकृत चित्तवाला, आर्त्त-रौद्रध्यान से विरत, पुण्य-पाप का निषेधक, नोकषायों से विरत और धर्मध्यान-शुक्लध्यान का ध्याता भी होना चाहिए।

उक्त योग्यताओं के बिना वह सदा सामायिकवाला या समाधिस्थ नहीं हो सकता।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य के समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमसमाधि अधिकार नामक नौवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।।२१९।।** ●

१०

परमभक्ति अधिकार

(गाथा १३४ से गाथा १४० तक)

नियमसार गाथा १३४

विगत नौ अधिकारों में क्रमश: जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहार-चारित्र, परमार्थप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना, शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त और परमसमाधि की चर्चा हुई। अब इस दसवें अधिकार में परमभक्ति की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस परमभक्ति अधिकार को प्रारंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्व

''अब भक्ति अधिकार कहा जाता है।''

अब नियमसार की गाथा १३४ एवं परमभक्ति अधिकार की पहली गाथा में रत्नत्रय का स्वरूप समझाते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्व

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ।।१३४।।

(हरिगीत)

भक्ति करें जो श्रमण श्रावक ज्ञान-दर्शन-चरण की।
निरवृत्ति भक्ति उन्हें हो इस भाँति सब जिनवर कहें ।।१३४।।

जो श्रावक या श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है, उसे निवृत्ति भक्ति है ह्व ऐसा जिनेन्द्रदेवों ने कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्व

''यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। चार गतिरूप संसार में परिभ्रमण का कारणभूत तीव्र मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति के प्रतिपक्षी निज

परमात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणस्वरूप शुद्धरत्नत्रयरूप परिणामों का भजन ही भक्ति है; आराधना है ह्व ऐसा इसका अर्थ है।

श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में आरंभ की छह प्रतिमायें जघन्य श्रावक की हैं, मध्य की तीन प्रतिमा में मध्यम श्रावक की हैं और अन्त की दो प्रतिमायें उत्तम श्रावक की हैं।[१] ह्व ये सभी श्रावक शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं।

तथा संसारभय से भयभीत, परम नैष्कर्मवृत्तिवाले परम तपोधन भी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं।

उन परम श्रावकों तथा परम मुनिराजों को, जिनदेवों के द्वारा कही गई और दुबारा संसार में न भटकने देनेवाली यह निर्वृत्ति भक्ति (निर्वाण भक्ति) रूपी स्त्री की सेवा है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्व

''शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति का अर्थ रत्नत्रय की आराधना है, उसे अपने जीवन में उतारना है। श्रावक को भी रत्नत्रय की आराधना होती है। उसे भी निश्चय श्रद्धान, ज्ञान व कुछ अंशों में आचरण होता है। **स्वभाव के ध्यान द्वारा निर्मल पर्याय का उत्पन्न होना ही आराधना-भक्ति है।**[२]

श्रावकों के सम्पूर्ण ग्यारहों पद अन्तर में आत्मा के भानपूर्वक ही होते हैं। उनके आत्मा में अंशतः स्थिरतारूप रत्नत्रय की भक्ति होती है।[३]

ग्यारह प्रतिमावाले सभी श्रावक शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं। चिदानन्द ज्ञातास्वभाव के श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक उसका अवलम्बन लेते

---

१. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम क्रमश: इसप्रकार हैं ह्व (१) दर्शन प्रतिमा, (२) व्रत प्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा, (४) प्रोषधोपवास प्रतिमा, (५) सचित्त त्याग प्रतिमा, (६) रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा या दिवामैथुनत्याग प्रतिमा, (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा, (८) आरंभत्याग प्रतिमा, (९) परिग्रहत्याग प्रतिमा, (१०) अनुमतित्याग प्रतिमा और (११) उदिष्टाहारत्याग प्रतिमा।

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०९१ ३. वही, पृष्ठ १०९१

ही पर्याय-पर्याय में वीतरागता के अंश की वृद्धि होती जाती है; इसी का नाम प्रतिमा है।[१]

त्रिकाली चिदानन्द द्रव्य के आश्रय से प्रगट होनेवाली निर्मल रत्नत्रय पर्याय को भगवान ने यहाँ भजन कहा है।[२]

देखो, मुनि हो या श्रावक ह्न दोनों के स्वभाव के आश्रय से जितनी रत्नत्रय की आराधना वर्तती है, उतनी ही वीतरागी भक्ति है और वही मोक्ष का कारण है।[३]

श्रावक के आंशिक वीतरागी देशचारित्र प्रगट हुआ है; अतः उसे आंशिक भक्ति होती है और मुनिराज के सकलचारित्र प्रगट हुआ है; अतः उनके पूर्ण भक्ति होती है।

मुनिराज के पंचमहाव्रत आदि का जो शुभराग होता है, वह तो आस्रव है और **मुनिपद तो संवर-निर्जरारूप दशा है।** यह दशा चैतन्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है तथा यही मुक्ति का कारण है, यही निर्वाणभक्ति है। इसी भक्ति से ही मुक्ति होती है।

शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करनेवाले उत्कृष्ट श्रावक एवं परमतपोधन के जिनेन्द्र भगवान द्वारा कही गई निर्वाणभक्ति अर्थात् अपुर्नभवरूपी स्त्री की सेवा वर्तती है। अपुर्नभव अर्थात् मोक्ष की आराधना वर्तती है।[४]

ऐसे अनंत-अनंत जिनेश्वर भगवंतों के शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करनेवाले श्रावक व श्रमणों के निर्वाण भक्ति ही है। **स्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान-स्थिरतारूप शुद्धरत्नत्रय की आराधना ही मुक्ति की भक्ति है।** तात्पर्य यह है कि उसी के आश्रय से मुक्ति होती है। ह्न ऐसा जिनदेव ने कहा है।[५]''

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०९९
२. वही, पृष्ठ १०९९
३. वही, पृष्ठ ११०१
४. वही, पृष्ठ ११०२-११०३
५. वही, पृष्ठ ११०३

इस गाथा और उसकी टीका में शुद्ध रत्नत्रयरूप निर्वृत्ति भक्ति अर्थात् निर्वाण भक्ति का स्वरूप समझाया गया है। टीका के आरंभिक वाक्य में टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि यह रत्नत्रय के स्वरूप का व्याख्यान है; पर अगली पंक्तियों में ही यह स्पष्ट कर देते हैं कि शुद्ध रत्नत्रयरूप परिणामों का भजन-आराधना ही भक्ति है।

शुद्ध रत्नत्रय के धारी होने से यह निर्वृत्ति भक्ति मुख्यरूप से मुनिराजों के ही होती है; तथापि **आंशिक निर्वृत्ति भक्ति आंशिक संयम को धारण करनेवाले प्रतिमाधारी श्रावकों के भी होती है।**

यह निर्वृत्ति भक्ति नामक निश्चयभक्ति शुद्ध निर्मल परिणतिरूप है; यही कारण है कि यह सदा विद्यमान रहती है। पर यह निश्चयभक्ति न तो पूर्णतः शुद्धोपयोगरूप ही है और न वचनव्यवहाररूप ही है तथा यह निश्चयभक्ति नमस्कारादि कायिक क्रिया और विकल्पात्मक मानसिक भावरूप भी नहीं है; क्योंकि उक्त शुद्धोपयोग तथा मानसिक विकल्पात्मक स्तुति बोलनेरूप तथा नृत्यादि चेष्टारूप मन-वचन-काय संबंधी व्यवहार भक्ति कभी-कभी ही होती है।।१३४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रान्ता)

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम् ।
कामक्रोधाद्यखिलदुरघव्रातनिर्मुक्तचेता:
भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावक: संयमी वा।।२२०।।

(हरिगीत)

संसारभयहर ज्ञानदर्शनचरण की जो संयमी।
श्रावक करें भव अन्तकारक अतुल भक्ती निरन्तर।।
वे काम क्रोधादिक अखिल अघ मुक्त मानस भक्तगण।
ही लोक में जिनभक्त सहृदय और सच्चे भक्त हैं।।२२०।।

जो श्रावक या संयमी जीव संसार भय को हरण करनेवाले इस सम्यग्दर्शन की, शुद्धज्ञान और शुद्धचारित्र की; संसार का छेद कर देनेवाली अतुल भक्ति निरन्तर करता है; काम-क्रोधादि सम्पूर्ण दुष्ट पापसमूह से मुक्त चित्तवाला वह श्रावक अथवा संयमी जीव निरन्तर भक्त है, भक्त ही है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''रागादि का लक्ष्य छोड़कर चिदानंद ज्ञानस्वभाव की भक्ति करना तो निश्चयभक्ति है और निश्चयभक्ति के साथ होनेवाले शुभराग को व्यवहारभक्ति कहा गया है। सर्वज्ञ के मार्ग में तो शुद्धरत्नत्रय का भजन करनेवाले को ही भक्त कहा गया है।[१]

गृहस्थ हो या मुनि, जिसे अपने शुद्धात्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की भक्ति है, वही सच्चा भक्त है तथा यह भक्ति भव की छेदक है।[२]

आचार्यदेव पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि अहो ! चिदानंद परमात्मतत्त्व की श्रद्धा करके जो उसकी आराधना करता है, वह जीव निरन्तर भक्त है, भक्त है। उसे सोते-जागते निरन्तर चैतन्य का भजन है। उस श्रावक को कदाचित् लड़ाई आदि का भाव भी आ जाय तो भी उसके उस समय भी शुद्ध चैतन्यतत्त्व की दृष्टि छूटती नहीं है, इसलिए कहा है कि वह भक्त है, भक्त है।[३]''

उक्त कलश में मात्र यही कहा गया है कि **शुद्ध रत्नत्रयधारी श्रावक या संयमी ह्न दोनों ही सदा निश्चय भक्ति से संपन्न हैं। भले ही वे आपको बाह्य में भक्ति करते दिखाई न दें; तथापि वे अपनी शुद्ध रत्नत्रय परिणति से निरन्तर भक्त ही हैं।।२२०।।**

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११०४
२. वही, पृष्ठ ११०४
३. वही, पृष्ठ ११०७

नियमसार गाथा १३५

१३४वीं गाथा में निश्चयभक्ति का स्वरूप कहा। अब इस १३५वीं गाथा में व्यवहारभक्ति का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं।।१३५।।

(हरिगीत)

मुक्तिगत नरश्रेष्ठ की भक्ति करें गुणभेद से।
वह परमभक्ति कही है जिनसूत्र में व्यवहार से।।१३५।।

जो जीव मोक्षगत पुरुषों का गुणभेद जानकर, उनकी भी परमभक्ति करता है; उस जीव को व्यवहारनय से परमभक्ति कही है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारनयप्रधान सिद्धभक्ति के स्वरूप का कथन है।

जो पुराणपुरुष सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के उपायभूत कारणपरमात्मा की अभेद-अनुपचार रत्नत्रय परिणति से भलीप्रकार आराधना करके सिद्ध हुए हैं; उनके केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के भेद को जानकर निर्वाण की परम्परा की हेतुभूत परमभक्ति जो आसन्नभव्य जीव करता है; उस मुमुक्षु को व्यवहारनय से निर्वाण भक्ति है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**कारणपरमात्मा के दृष्टि-ज्ञानपूर्वक उसी में स्थिर होना धर्म प्रगट करने की विधि है।** इसी विधि से अभी तक अनन्त सिद्ध हुये हैं।

उन्हें पहिचान कर उनकी भक्ति करना निर्वाण की परम्परा हेतुभूत व्यवहारभक्ति है; परन्तु अन्दर में निश्चय परमात्मस्वभाव होने पर ही उसे व्यवहारभक्ति कहा जाता है।

जो आसन्नभव्य जीव ऐसी भक्ति करता है, उसके ही व्यवहार व परमार्थ दोनों भक्ति होती हैं।[१]

शुद्ध रत्नत्रय द्वारा अपने आत्मस्वभाव की परमभक्ति ही निर्वाण का साक्षात् कारण है। जबतक उस साक्षात् कारण की पूर्णता नहीं होती, तबतक सिद्धभगवान आदि की भक्ति का शुभराग आता है, उसे व्यवहार से निर्वाण का परम्परा हेतु कहा गया है। **निश्चयत्नत्रय के साथ होनेवाले शुभराग को उपचार से परम्परा मोक्ष का कारण कहा है।**

शुभराग वास्तव में स्वयं तो आस्रवभाव है; परन्तु उसके साथ कारणपरमात्मा का श्रद्धा-ज्ञान-आचरण होने से मोक्ष का व्यवहार कारण कहा जाता है।[२]''

उक्त गाथा व उसकी टीका में व्यवहारभक्ति का स्वरूप समझाते हुए मात्र यही कहा है कि निश्चयभक्ति के निर्विकल्प स्वरूप को भलीभांति समझनेवाले ज्ञानी श्रावक या छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज जब **शुभोपयोग के काल में सिद्ध भगवान की भक्ति-स्तुति उनके केवलज्ञानादि गुणों के आधार पर करते हैं तो उक्त विकल्पात्मक भक्ति-स्तुति को व्यवहारभक्ति कहते हैं।**

सिद्ध भगवान के गुणों को भलीभांति जानकर उनके गुणानुवाद करने को व्यवहारभक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान का स्वरूप भलीभांति जानकर मन में उनके गुणों का चिन्तन करना, वचन से उनका गुणगान करना और काया से नमस्कारादि करना व्यवहारभक्ति है।।१३५।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव छह छन्द लिखते हैं; जिनमें आरंभ के तीन छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुभ्)

उद्धूतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धिवधूधवान्।
संप्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ।।२२१।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १११२ २. वही, पृष्ठ १११३

(आर्या)

व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृत्तिभक्तिर्जिनोत्तमैः प्रोक्ता।
निश्चयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता ।।२२२।।
निःशेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनिलयं।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः ।।२२३।।

(दोहा)

सिद्धवधूधव सिद्धगण नाशक कर्मसमूह।
मुक्तिनिलयवासी गुणी वंदन करूँ सदीव।।२२१।।
सिद्धभक्ति व्यवहार है जिनमत के अनुसार।
नियतभक्ति है रतनत्रय भविजन तारणहार।।२२२।।
सब दोषों से दूर जो शुद्धगुणों का धाम।
आत्मध्यानफल सिद्धपद सूरि कहें सुखधाम।।२२३।।

जिन्होंने सभी कर्मों के समूह को गिरा दिया है अर्थात् नाश कर दिया है, जो मुक्तिरूपी स्त्री के पति हैं, जिन्होंने अष्ट गुणरूप ऐश्वर्य को प्राप्त किया है तथा जो कल्याण के धाम हैं; उन सिद्ध भगवन्तों को मैं नित्य वंदन करता हूँ।

इसप्रकार जिनवरों ने सिद्ध भगवन्तों की भक्ति को व्यवहारनय से निर्वृत्ति भक्ति या निर्वाण भक्ति कहा है और निश्चय निर्वाण भक्ति को रत्नत्रय भक्ति भी कहा है।

आचार्य भगवन्तों ने सिद्धपने को समस्त दोषों से रहित, केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का धाम और शुद्धोपयोग का फल कहा है।

इन छन्दों का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ज्ञानी जीव समझता है कि वास्तव में निश्चय से तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नहीं है। अतः निश्चय से तो कर्मों को आत्मा खदेड़ ही नहीं सकता, भस्म कर ही नहीं सकता; परन्तु यहाँ व्यवहारनय की प्रधानता से कथन होने के कारण ऐसा कहा है कि सिद्धों ने कर्मों को खदेड़ दिया है, भस्म कर दिया है, खिरा दिया है।

जिसप्रकार जब पक्षी अपने पंख फैलाता या समेटता है तो धूल उड़ जाती है; उसीप्रकार जब आत्मा स्वभाव में लीन होता है, तब कर्म अपने-आप खिर जाते हैं।[१]

आत्मा सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य त्रिकाली द्रव्य पति है और उसकी विशेष परिणति ही उसकी अर्धांगिनी है। उस परिणति के बिना आत्मा कभी नहीं रहता और परिणति भी कभी आत्मा से जुदी नहीं होती। इसलिए **आत्मद्रव्य की सच्ची अर्धांगिनी तो सिद्धपर्याय ही है।**[२]

सिद्ध भगवान कल्याण के धाम हैं; परन्तु वे कल्याण के धाम स्वयं के लिए हैं, दूसरों के लिए नहीं; 'दूसरों के लिए कहना' ह्न यह तो व्यवहार है ह्न ऐसा ज्ञानी जानते हैं और उन्हें उसमें राग होने के कारण भक्ति का व्यवहार भी होता है।[३]

यहाँ सिद्धों की विकल्पात्मक भक्ति को व्यवहार भक्ति एवं निर्विकल्प रत्नत्रय को निश्चय भक्ति कहा है।[४]

पिछले श्लोक में निश्चय-व्यवहार से बात की थी और इस श्लोक में अस्ति-नास्ति से बात की है। इसमें कहा है कि सिद्ध भगवान सम्पूर्ण गुणों से सहित हैं एवं सम्पूर्ण दोषों से रहित हैं। उनके रागरहित परम वीतराग दशा प्रगट हुई है, उनके रागरहित शुद्धोपयोग है।[५]

यहाँ सिद्धदशा को शुद्धोपयोग का फल बताया है।[६]''

उक्त छन्दों में से प्रथम छन्द में **अष्टकर्मों से रहित, अष्टगुणों से मंडित, शिवरमणी के पति और कल्याण के धाम सिद्ध भगवान को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया गया है।**

दूसरे छन्द में निश्चय-व्यवहार भक्ति का स्वरूप समझाते हुए **निश्चय रत्नत्रय को निश्चय निर्वाण भक्ति और सिद्ध भगवान के गुणगान को व्यवहार निर्वाण भक्ति कहा गया है।**

तीसरे छन्द में **सिद्धपद को शुद्धोपयोग का फल बताया गया है।।२२१-२२३।।**

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १११७ २. वही, पृष्ठ १११७ ३. वही, पृष्ठ १११८
४. वही, पृष्ठ १११८-१११९ ५. वही, पृष्ठ ११२० ६. वही, पृष्ठ ११२०

इसके बाद सिद्ध भगवन्त की स्तुति करनेवाले दो छन्द प्रस्तुत किए हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः।
ये शुद्धात्मविभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणाः
तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान्।।२२४।।

त्रैलोक्याग्रनिकेतनान् गुणगुरून् ज्ञेयाब्धिपारंगतान्
मुक्तिश्रीवनितामुखाम्बुजरवीन् स्वाधीनसौख्यार्णवान्।
सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोत्करान्
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान्।।२२५।।

(हरिगीत)

शिववधूसुखखान केवलसंपदा सम्पन्न जो।
पापाटवी पावक गुणों की खान हैं जो सिद्धगण।।
भवक्लेश सागर पार अर लोकाग्रवासी सभी को।
वंदन करूँ मैं नित्य पाऊँ परमपावन आचरण।।२२४।।

ज्ञेयोदधि के पार को जो प्राप्त हैं वे सुख उदधि।
शिववधूमुखकमलरवि स्वाधीनसुख के जलनिधि।।
आठ कर्मों के विनाशक आठगुणमय गुणगुरु।
लोकाग्रवासी सिद्धगण की शरण में मैं नित रहूँ।।२२५।।

जो लोकाग्र में वास करते हैं, भव-भव के क्लेशरूपी सागर को पार को प्राप्त हुए हैं, मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट स्तनों के आलिंगन से उत्पन्न सुख की खान हैं तथा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न केवलज्ञान की सम्पत्ति के महान गुण वाले हैं; पापरूपी भयंकर वन को जलाने में अग्नि के समान उन सिद्ध भगवन्तों को प्रतिदिन नमन करता हूँ।

तीन लोक के अग्रभाग में निवास करनेवाले, गुणों में भारी, ज्ञेयरूपी महासागर के पार को प्राप्त, मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के मुखकमल के सूर्य, स्वाधीन सुख के सागर, अष्ट गुणों को सिद्ध करनेवाले, भव तथा आठ

कर्मों का नाश करनेवाले, पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि के समान, नित्य अविकारी सिद्ध भगवन्तों की मैं निरन्तर शरण लेता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनिराज तो परम वीतरागी होते हैं। अज्ञानी जीव स्त्री के पुष्ट अवयवों का स्पर्श करके सुख मानता है; परन्तु उसमें सुख नहीं है, सुख तो सिद्धदशा में है ह्न यह बताने के लिए अलंकार करके वीतरागी मुनिराज कहते हैं कि **सिद्धदशारूपी स्त्री के पुष्ट स्तन अर्थात् पुष्टता को प्राप्त ज्ञान-दर्शन पर्याय के स्पर्श से, संवेदन से, वेदन से उत्पन्न हुए सुख का खजाना तो सिद्ध भगवान हैं।**[१]

२२४वें श्लोक में कहा था कि लोकाग्र में विराजमान हैं और यहाँ कहा कि तीन लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं।

तीन लोक के अग्र में विराजमान हैं ह्न ऐसा कहकर तीन लोक की भी सिद्धि कर दी; क्योंकि तीन लोकों को नहीं माननेवाले के तो व्यवहार श्रद्धा भी नहीं है।[२]''

उक्त दोनों छन्दों में से प्रथम छन्द में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया गया है और दूसरे छन्द में उन्हीं सिद्ध भगवान की शरण में जाने की भावना व्यक्त की गई है।

दोनों ही छन्दों में सिद्ध भगवान को लोकाग्रवासी और पापरूपी भयंकर अटवी को जलानेवाली अग्नि बताया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही छन्दों में विविध विशेषणों के माध्यम से लगभग एक समान ही भाव प्रगट किये गये हैं।

वस्तुत: बात यह है कि निश्चय निर्वाण भक्ति से सिद्धदशा प्राप्त होती है और व्यवहार निर्वाण भक्ति में सिद्ध भगवान की मन से प्रशंसा, वचन से स्तुति और उनको काया से नमस्कारादि किये जाते हैं।।२२४-२२५।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११२१ २. वही, पृष्ठ ११२२-११२३

इसके बाद आनेवाले छन्द में भी सिद्ध भगवान की ही स्तुति की गई है। छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

ये मर्त्यदैवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति-
योग्या: सदा शिवमया: प्रवरा: प्रसिद्धा: ।
सिद्धा: सुसिद्धिरमणीरमणीयवक्त्र-
पंकेरुहोरुमकरंदमधुव्रता: स्यु: ।।२२६।।

(हरिगीत)

सुसिद्धिरूपी रम्यरमणी के मधुर रमणीय मुख।
कमल के मकरंद के अलि वे सभी जो सिद्धगण।।
नरसुरगणों की भक्ति के जो योग्य शिवमय श्रेष्ठ हैं।
मैं उन सभी को परमभक्ति भाव से करता नमन।।२२६।।

जो मनुष्यों तथा देवों की परोक्ष शक्ति के योग्य है, सदा शिवमय है, श्रेष्ठ है और प्रसिद्ध है; वे सिद्ध भगवान सुसिद्धिरूपी रमणी के रमणीय मुख कमल के महा मकरन्द के भ्रमर हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान अनुपम मुक्ति सुख का निरन्तर अनुभव करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अरहंत भगवान की भक्ति देव एवं चक्रवर्ती आदि तो प्रत्यक्ष समवशरण में करते हैं, पर सिद्धों की भक्ति परोक्ष करते हैं।[१]

सिद्धों का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि सिद्ध भगवान सदा शिवमय है, कल्याणमय है। सिद्धदशा का प्रगट होना ही शिव है, अन्य कोई शिव नहीं है।

सिद्ध भगवान श्रेष्ठ हैं, 'परमात्मप्रकाश' में तो ऐसा अलंकार किया कि '**यदि भगवान सर्वश्रेष्ठ न होते तो उन्हें लोकाग्र में कौन रखता ?**'

सिद्ध भगवान प्रसिद्ध हैं; क्योंकि अनन्त सिद्ध हो गये हैं ह्न यह बात

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११२८

प्रसिद्ध है, गुप्त नहीं है। स्वभाव का निर्णय कर स्वभाव में रमणतापूर्वक वीतरागता प्रगट की है ह्न यह बात प्रसिद्ध है, प्रगट पूर्ण पर्याय प्रसिद्ध है।[१]

जिसप्रकार भ्रमर फूल का रस चूसते हैं; उसीप्रकार भगवान भी स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न पूर्णदशारूपी रमणी के रमणीय मुखकमल का आनन्द रस पीने के लिए भ्रमर समान हैं। पर्याय में से आनन्द का झरना बहता है।[२]

इसप्रकार सिद्ध भगवान का स्वरूप पहिचान कर जो जीव सिद्ध भगवान की भक्ति करते हैं, उनके व्यवहार से निर्वाणभक्ति होती है।[३]''

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि अरहंत भगवान की भक्ति तो मनुष्य व देवगणों द्वारा समवशरण में उपस्थित होकर प्रत्यक्ष की जा सकती है, पर **सिद्ध भगवान की भक्ति तो परोक्षरूप से ही करना होती है; क्योंकि लोकाग्रवासी और अशरीरी होने से उनका दर्शन इस मध्यलोक में प्रत्यक्ष संभव नहीं है।**

सदा कल्याणस्वरूप सिद्ध भगवान सर्वश्रेष्ठ तो हैं ही, सर्वजन प्रसिद्ध भी हैं तथा मुक्ति में प्राप्त होनेवाले अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का निरन्तर अनुभव करते रहते हैं।।२२६।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११२८
२. वही, पृष्ठ ११२८
३. वही, पृष्ठ ११२८

> इन देहादि परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्‌भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दु:खों को दूर करने और अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।
>
> **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-५१**

नियमसार गाथा १३६

अब इस १३६वीं गाथा में निज परमात्मा की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ।।१३६।।

(हरिगीत)

जो थाप निज को मुक्तिपथ भक्ति निवृत्ति की करें।
वे जीव निज असहाय गुण सम्पन्न आतम को वरें ।।१३६।।

मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को भलीभाँति स्थापित करके निर्वाण भक्ति करनेवाला जीव उस निर्वाण भक्ति से असहाय गुणवाले अपने आत्मा को प्राप्त करता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निज परमात्मा की भक्ति के स्वरूप का कथन है।

निरंजन निज परमात्मा के आनन्दरूपी अमृत को पीने के लिए अभिमुख यह जीव; भेदकल्पना निरपेक्ष निरुपचार रत्नत्रयात्मक निर्विकारी मोक्षमार्ग में, अपने आत्मा को, भले प्रकार स्थापित करके; निर्वृत्ति के अर्थात् मुक्तिरूपी स्त्री के चरण कमलों की परम भक्ति करता है; उस कारण से वह भव्य जीव भक्ति गुण द्वारा, निरावरण सहज ज्ञान गुणवाला होने से, असहाय गुणात्मक निज आत्मा को प्राप्त करता है।''

इस गाथा और इसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भक्ति दो प्रकार की होती है, एक निश्चयभक्ति और दूसरी व्यवहारभक्ति। चैतन्यस्वभाव के निर्विकल्प श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक उसी में स्थिर होना, परमात्मा की निश्चयभक्ति है तथा ऐसी निश्चयभक्तिपूर्वक बीच-बीच में जो शुभराग आता है, वह व्यवहारभक्ति है।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११२९-११३०

अपने शुद्ध आत्मा का वीतरागी श्रद्धान-ज्ञान ही निश्चयभक्ति है और देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान का भाव व्यवहारभक्ति है।[१]

यहाँ पर्याय के अभिमुख होने के लिए नहीं कहा है; परन्तु पर्यायबुद्धि छोड़कर, पर्याय को त्रिकाली तत्त्व के अभिमुख करने के लिए कहा है।

जो जीव त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख होकर गुण-गुणी भेद की कल्पना से भी निरपेक्ष होकर रत्नत्रय में आत्मा को स्थापित करता है, वह जीव मोक्ष की भक्ति करता है।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि **मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थापित करना अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण करना ही निश्चय भक्ति है, निर्वृत्ति भक्ति है, निर्वाण भक्ति है।** इसी निश्चय निर्वाण भक्ति से निज भगवान आत्मा की प्राप्ति होती है ।।१३६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये निर्मुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे।
संस्थाप्यानंदभास्वन्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभक्त्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितविपदं सिद्धिसीमन्तिनीश: ।।२२७।।

(हरिगीत)

शिवहेतु निरुपम सहज दर्शन ज्ञान सम्यक् शीलमय।
अविचल त्रिकाली आत्मा में आत्मा को थाप कर।।
चिच्चमत्कारी भक्ति द्वारा आपदाओं से रहित।
घर में बसें आनन्द से शिव रमापति चिरकाल तक।।२२७।।

मुक्ति के हेतुभूत निरुपम सहज ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप इस अविचलित महा शुद्ध रत्नत्रयरूप आत्मा में आत्मा को वस्तुत: भली भांति स्थापित करके यह आत्मा चैतन्यचमत्कार की भक्ति द्वारा, जिसमें

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३० २. वही, पृष्ठ ११३१

से समस्त आपदायें दूर हो गई हैं तथा जो आनन्द से शोभायमान है ह्न ऐसे सर्वश्रेष्ठ घर को प्राप्त करता है अर्थात् सिद्धरूपी स्त्री का स्वामी होता है।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सर्वप्रथम तो यह निर्णय करना चाहिये कि ध्रुवस्वभाव की सन्मुखता से ही मेरा कल्याण होगा और ऐसे निर्णयपूर्वक अपने ध्रुवस्वभाव के सन्मुख होकर/ध्रुवस्वभाव में लीन होकर अपना कल्याण करना चाहिये।

जब यह आत्मा सम्यक्प्रकार से आत्मा की भक्ति करता है; तब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, निरुपाधिक आनन्द से सुशोभित शाश्वत घर को प्राप्त करता है अर्थात् वह मुक्तिरूपी स्त्री का स्वामी होता है।[१]''

इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में स्वयं के आत्मा को स्थापित करनेवाले आत्मा को इस परमभक्ति द्वारा निजघर की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वह **आत्मा मुक्तिरूपी वधू का स्वामी होता है, मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर अनन्तकाल तक अनन्त शाश्वत सुख का उपभोग करता है ।।२२७।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३४

वैराग्यवर्धक बारह भावनाएँ मुक्तिपथ का पाथेय तो हैं ही, लौकिक जीवन में भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों से उत्पन्न उद्वेगों को शान्त करनेवाली ये बारह भावनाएँ व्यक्ति को विपत्तियों में धैर्य एवं सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती हैं, विषय-कषायों से विरक्त एवं धर्म में अनुरक्त रखती हैं, जीवन के मोह एवं मृत्यु के भय को क्षीण करती हैं, बहुमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को आत्महित में संलग्न रह सार्थक कर लेने को निरन्तर प्रेरित करती हैं; जीवन के निर्माण में इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। **ह्न बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-२**

नियमसार गाथा १३७

अब इस गाथा में निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ।।१३७।।

(हरिगीत)

जो साधु आतम लगावे रागादि के परिहार में।
वह योग भक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं।।१३७।।

जो साधु रागादि के परिहार में आत्मा को लगाता है अथवा आत्मा में आत्मा को लगाकर रागादि का परिहार करता है; वह साधु योगभक्ति युक्त है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा योगभक्तिवाला कैसे हो सकता है?

तात्पर्य यह है कि उस वीतरागी मार्ग में लगे हुए साधु से अन्य कोई रागी व्यक्ति योगभक्तिवाला नहीं हो सकता है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चय योगभक्ति के स्वरूप का व्याख्यान है।

पूर्णत: अन्तर्मुख परमसमाधि द्वारा, सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादि परभावों का परिहार होने पर; जो साधु अर्थात् आसन्नभव्यजीव, निज अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूप के साथ, निज कारणपरमात्मा को युक्त करता है, जोड़ता है; वह परम तपोधन ही शुद्ध निश्चय योगभक्ति से युक्त है। बाह्य प्रपंच में स्वयं को सुखी मानकर उसी में संलग्न अन्य पुरुष को योगभक्ति कैसे हो सकती है ?''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**शुद्धात्मद्रव्य के सन्मुख होकर परद्रव्य में कर्तृत्वबुद्धि एवं रागादि को छोड़कर निसन्देह ज्ञानमात्र में एकाग्र होना योग है।**[१]

यहाँ शुद्ध चैतन्य के श्रद्धान-ज्ञान-एकाग्रता को भक्ति कहा है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३६

वही आत्मयोग/उपासना/मोक्षमार्ग है। अन्यमती ईश्वर को कर्त्ता मानकर प्राणायाम, शुभभावना, जाप, त्राटक से एकाग्रता आदि को भक्ति, योग, साधना आदि मानते हैं, जो कि वस्तुस्थिति से विपरीत है; परन्तु कुदेव-सुदेव, तत्त्व-अतत्त्व आदि का विवेक होने पर आत्मा को ज्ञानमात्र में विशेष लीनतारूप **प्रयत्न सहित चित्परिणतिरूप अखण्ड चैतन्य में जोड़ना वही सम्यक्योग है। आत्मा को आत्मा में जोड़ना योग है।** स्वसन्मुखता, योग, धर्म, भक्ति, समाधि, निर्विकल्पशांति, स्वसंवेदन, कल्याणमार्ग सभी एकार्थ वाची हैं।[१]

अशुभ से बचने के लिए देवादि के प्रति भक्त्यादि का शुभराग होता है; परन्तु वह पुण्य है, धर्म या धर्म का कारण नहीं है।

यह जीव पुण्य-पाप, व्यवहार रत्नत्रय, व्रत-अव्रत सर्वप्रकार के राग की अपेक्षा बिना **जितने अंशों में पूर्ण सिद्ध परमात्मा समान ब्रह्मानन्द चैतन्य में एकाग्र होता है, उतने अंशों में मोक्षमार्ग में योगभक्ति है ह्न** ऐसा भगवान ने कहा है।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो साधु त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनेपन के साथ होनेवाले श्रद्धान, ज्ञान और आत्मलीनता से रागादि भावों के परिहार में संलग्न है; वही एकमात्र योगभक्तिवाला है। उससे भिन्न अन्य कोई व्यक्ति योगभक्तिवाला नहीं हो सकता ।।१३७।।

इसके बाद **'तथा चोक्तम्** ह्न तथा इसीप्रकार कहा गया है' ह्न लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगति: ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ।।६५।।

(दोहा)

निज आतम के यत्न से मनगति का संयोग।
निज आतम में होय जो वही कहावे योग।।६५।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३९ २. वही, पृष्ठ ११४०

आत्मप्रयत्न सापेक्ष मन की विशिष्ट गति-परिणति का ब्रह्म (अपने आत्मा) में लगाना ही योग है। तात्पर्य यह है कि पर के सहयोग के बिना **मात्र स्वयं के प्रयत्न से मन का निज भगवान आत्मा में जुड़ना ही योग है।।६५।।**

इसप्रकार अन्य ग्रन्थ के उद्धरण से अपनी बात पुष्ट करके टीकाकार मुनिराज '**तथाहि ह्न** अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द स्वयं प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम्।
स योगभक्तियुक्त: स्यान्निश्चयेन मुनीश्वर: ।।२२८।।

(दोहा)

निज आतम में आतमा को जोड़े जो योगि।
योग भक्ति वाला वही मुनिवर निश्चय योगि ।।२२८।।

जो मुनिराज अपने आत्मा को आत्मा में निरंतर जोड़ते हैं, युक्त करते हैं; वे मुनिराज निश्चय से योगभक्ति युक्त हैं।

उक्त छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिकाली ज्ञानानंदस्वरूप अनंतगुणों का पुंज वह आत्मा है, उसके आश्रयपूर्वक पर से भिन्न अन्तर्मुख परिणति वह धर्म है और उसका कारण/साधन/आधार स्वयं आत्मा ही है। उसकी सम्यक् प्रतीतिरूप योगभक्ति है।

गृहस्थों के भी इसप्रकार की योगभक्ति होती है, मुनिराजों के तो विशेष आनंद सहित लीनता होने से विशेष योगभक्ति होती है।[1]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि **यह मुक्तिप्रदाता योगभक्ति अपनी-अपनी भूमिकानुसार गृहस्थों और मुनिराजों ह्न दोनों को ही होती है।।२२८।।**

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४१

नियमसार गाथा १३८

विगत गाथा के समान इस गाथा में भी निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ।।१३८।।

(हरिगीत)

जो साधु आतम लगावे सब विकल्पों के नाश में।
वह योगभक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं।।१३८।।

जो साधु अर्थात् आसन्नभव्यजीव सभी विकल्पों के अभाव में अपने आत्मा को अपने आत्मा में ही लगाता है अथवा अपने आत्मा में आत्मा को जोड़कर सभी विकल्पों का अभाव करता है; वह आसन्नभव्य जीव योगभक्तिवाला है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ भी विगत गाथा के समान निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहा है।

अति-अपूर्व शुद्ध रत्नत्रयात्मक निज चिद्विलासलक्षण निर्विकल्प परमसमाधि द्वारा, सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादि अनेक विकल्पों का अभाव होने पर, परम समरसीभाव के साथ, सम्पूर्णत: अंतर्मुख निज कारण समयसारस्वरूप को जो अति-आसन्नभव्यजीव सदा जोड़ता ही है; उसे ही वस्तुत: निश्चय योगभक्ति है; अन्यों को नहीं।''

१३७ व १३८वीं गाथा में **साहू** पद का प्रयोग है; उसका अर्थ टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव आसन्नभव्यजीव करते हैं।

दूसरी बात यह है कि ये दोनों गाथाएँ लगभग एक समान ही हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि १३७वीं गाथा में समागत **रागादी परिहारे** पद के स्थान पर १३८वीं गाथा में **सव्ववियप्पाभावे** पद दे दिया गया

है। **तात्पर्य यह है कि १३७वीं गाथा में आत्मा के आश्रय से रागादि का परिहार करनेवाले को योगभक्तिवाला कहा है और १३८वीं गाथा में सभी प्रकार के विकल्पों के अभाववाले को योगभक्तिवाला कहा है।।१३८।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम्।।२२९।।

(दोहा)

आत्मलब्धि रूपा मुकति योगभक्ति से होय।
योगभक्ति सर्वोत्तमा भेदाभावे होय।।२२९।।

यह अनुत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ योगभक्ति भेद के अभाव होने पर ही होती है। इस योगभक्ति द्वारा मुनिराजों को आत्मलब्धिरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।

भेद का अर्थ विकल्प भी होता है। यही कारण है कि गाथा में जहाँ सर्वविकल्पों के अभाव की बात कही है; वही इस कलश में भेद के अभाव की बात की है।

तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के भेद-प्रभेद संबंधी विकल्पों के अभाव में होनेवाली निर्विकल्प भक्ति ही निश्चययोग भक्ति है।

यह निश्चय योगभक्ति मुक्ति का कारण है; क्योंकि यह निश्चय रत्नत्रयस्वरूप है, शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणतिरूप है।।२२९।। •

आगम का विरोधी अध्यात्मी नहीं हो सकता, अध्यात्म का विरोधी आगमी नहीं हो सकता। जो आगम का मर्म नहीं जानता, वह अध्यात्म का मर्म भी नहीं जान सकता और जो अध्यात्म का मर्म नहीं जानता, वह आगम का मर्म भी नहीं जान सकता। सम्यग्ज्ञानी आगमी भी है और अध्यात्मी भी तथा मिथ्याज्ञानी आगमी भी नहीं होता और अध्यात्मी भी नहीं होता।

ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१७७

नियमसार गाथा १३९

अब इस गाथा में परमयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो।।१३९।।

(हरिगीत)

जिनवर कथित तत्त्वार्थ में निज आतमा को जोड़ना।
ही योग है यह जान लो विपरीत आग्रह छोड़कर।।१३९।।

विपरीताभिनिवेश को छोड़कर जो पुरुष जैनकथित तत्त्वों में अपने आत्मा को लगाता है; उसका वह निजभाव योग है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ समस्त गुणों को धारण करनेवाले गणधरदेव आदि मुनिवरों द्वारा कथित तत्त्वों में विपरीत मान्यता रहित आत्मा का परिणाम ही निश्चय परमयोग कहा गया है।

अन्यमतमान्य तीर्थंकरों द्वारा कहे गये विपरीत पदार्थ में दुराग्रह ही विपरीत अभिनिवेश है। उसे छोड़कर जैनों द्वारा कहे गये तत्त्व ही निश्चय-व्यवहार से जानने योग्य हैं।

तीर्थंकर अरहंतों के चरणकमल के सेवक जैन हैं। उनमें मुख्य गणधर देव हैं। उन गणधरदेवादि के द्वारा कहे गये सभी जीवादि तत्त्वों में जो जिन योगीश्वर अपने आत्मा को लगाता है; उसका वह निजभाव ही परमयोग है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस जीव की जिसमें रुचि होती है, यह जीव उसी का आदर करता है, अन्य का नहीं। इसीप्रकार जिसने मिथ्यात्वपोषक कुदेवादि

का आदर करना छोड़कर सच्चे देवादि तथा सर्वज्ञकथित तत्त्वों का निर्णय किया है, जिसे ऐसे शुद्धात्मा की रुचि है, वह जीव सर्वज्ञस्वभाव के समीप होने से/वीतराग दृष्टिवान हुआ होने से ज्ञानयोग सहित शुद्धात्म-भक्तियोग सहित है।

पुण्य-पापोदयजनित संयोगों में जिसकी रुचि है, उसे किसी भी प्रकार योग नहीं होता।[1]

त्रिकाली शुद्धतत्त्व और पर्याय में विकार-अविकार का भेद सर्वज्ञ कथित आगम के द्वारा जानना चाहिए। एकान्तशुद्ध ही माने और पर्याय में विद्यमान विकार को जाने ही नहीं तो वह एकान्त निश्चयाभासी है और जो अकेले व्यवहार के अवलम्बन में ही धर्म मानता है, निश्चय स्वभाव को अंगीकार नहीं करता, वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।[2]

नवतत्त्वों को जानकर और शुद्ध जीवतत्त्व ही को आदरणीय मानकर उसका निःशंकपने आश्रय करते ही संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है और पुण्य-पाप आदि व्यवहार का अभाव हो जाता है। इसे ही नवतत्त्वों में साररूप शुद्धात्मतत्त्व में आत्मा को जोड़ा कहा जाता है। स्वभाव में एकाग्रता द्वारा मिथ्यात्व आदि आस्रवों के अभावपूर्वक संवर-निर्जरारूप शुद्धपर्याय प्रगट होती है ह्र इसप्रकार भव्यजीव पुण्य-पापरूप आस्रव-बंध से भिन्न स्व में एकाग्र हो जाता है। ऐसे स्वरूपलीन जीव को नवतत्त्वों का यथार्थ जाननेवाला कहा जाता है तथा इसी का नाम सच्चा योग है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा के सन्मुख होने पर नवतत्त्वों का यथार्थज्ञान होता है। इसके बिना ध्यानादि करना सब मिथ्या है, क्योंकि वीतरागकथित वस्तु के भान बिना सच्चा ध्यान, योग नहीं होता।[3]''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो विपरीताभिनिवेश अर्थात् उल्टी मान्यता से रहित, जिनेन्द्र भगवान

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४३
२. वही, पृष्ठ ११४५ ३. वही, पृष्ठ ११४५-११४६

द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में निज भगवान आत्मा को लगाता है; उसके उस भाव को योग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि **जिनवरकथित तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व जो अपना आत्मा; उसमें अपने श्रद्धा, ज्ञान और आचरण का समर्पण ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही वस्तुतः योग है।** अन्य देहादि की क्रियाओं के परमार्थ योग का कोई सम्बन्ध नहीं है।।१३९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्र

(वसंततिलका)

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविंद-
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः।।२३०।।

(दोहा)

छोड़ दुराग्रह जैन मुनि मुख से निकले तत्त्व।
में जोड़े निजभाव तो वही भाव है योग।।२३०।।

उक्त विपरीताभिनिवेशरूप दुराग्रह को छोड़कर जैन मुनीश्वरों के मुखारविन्द से निकले भव्यजनों के भवों का घात (अभाव) करनेवाले तत्त्वों में जो जैन मुनीश्वर निजभाव को साक्षात् लगाते हैं; उनका वह निजभाव योग है।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''सर्वज्ञ भगवान के अलावा अन्य मिथ्यादृष्टियों द्वारा कहे हुए कुतत्त्वों को मानना दुराग्रह है। जैनधर्म के नाम पर भी कल्पित मतों द्वारा कहे हुए तत्त्वों को मानना दुराग्रह है। इसलिए कल्पित मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर दिगम्बर मुनिनाथ सर्वज्ञदेव/गणधर देव द्वारा कथित तत्त्वों की पहिचान ही भव का नाश करनेवाली है।

जो जीव यथार्थ तत्त्वज्ञान में स्वसन्मुख होकर, अपने में निजभाव

को साक्षात् जोड़ता है, उसका यह निजभाव ही योग है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है।

'जैन' यह कोई पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि त्रिकाल अबाधित वस्तुस्थिति है। सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है ह्न ऐसा अपने को अपने ज्ञान द्वारा ही सचोट भासित होना चाहिये। निर्णीत तत्त्वों के ज्ञान बिना सामायिक, भक्ति, योग आदि एक भी धर्मक्रिया व्यवहार से भी यथार्थ नहीं होती।[1]''

इस छन्द में भी गाथा और टीका में समागत भाव को ही दुहराया गया है। कहा गया है कि उल्टी मान्यतारूप दुराग्रह को छोड़कर जिनवर कथित, गणधरदेव द्वारा निरूपित, आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध, उपाध्यायों द्वारा पढ़ाया गया, मुनिराजों द्वारा जीवन में उतारा गया तथा ज्ञानी श्रावकों द्वारा समझा-समझाया गया एवं **भव्यजीवों के आगामी भवों का अभाव करनेवाला यह तत्त्वज्ञान ही परम शरण है। इसमें लगा उपयोग ही योग है।**

अत: हम सभी को जिनवाणी का गहराई से अध्ययन कर, उसके मर्म को ज्ञानीजनों से समझ कर, अपने उपयोग को निज भगवान आत्मा के ज्ञान-ध्यान में लगाना चाहिए। सुख व शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२३०।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४६-११४७

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है; क्योंकि यदि पर्यायें परिवर्तनशील नहीं होतीं तो फिर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता। अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसंयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि संयोग अस्थाई न होकर स्थायी होते तो फिर मोक्ष कैसे होता? अत: संयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है। **ह्न बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-२८**

नियमसार गाथा १४०

परमभक्ति अधिकार की इस अन्तिम गाथा में यह बताया जा रहा है कि ऋषभादि सभी जिनेश्वर इस योगभक्ति के प्रभाव से मुक्तिसुख को प्राप्त हुए हैं। अत: हमें भी इसी मार्ग में लगना चाहिए।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ।।१४०।।

(हरिगीत)

वृषभादि जिनवरदेव ने पाया परम निर्वाण सुख।
इस योगभक्ति से अतः इस भक्ति को धारण करो ।।१४०।।

ऋषभादि जिनेश्वर इस उत्तम योगभक्ति करके निर्वृत्ति सुख को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुम भी इस उत्तम योगभक्ति को धारण करो।

टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह भक्ति अधिकार के उपसंहार का कथन है।

इस भारतवर्ष में पहले राजा नाभिराज के पुत्र तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक के चौबीसों तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ-वीतरागी हुए हैं।

जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैली हुई है ह्न ऐसे ये महादेवाधिदेव परमेश्वर ह्न सभी तीर्थंकर यथोक्त प्रकार से निज आत्मा के साथ संबंध रखनेवाली शुद्ध निश्चय योग की उत्कृष्ट भक्ति करके मुक्त हुए हैं और वहाँ मुक्ति में परम निर्वाणरूपी वधू के अति पुष्ट स्तन के गाढ़ आलिंगन से सर्व आत्मप्रदेश में अत्यन्त आनन्दरूपी परमामृत के पूर से परिपुष्ट हुए हैं।

इसलिए हे प्रगट भव्यत्व गुणवाले महाजनो ! तुम निज आत्मा को परम वीतरागी सुख देनेवाली इस योगभक्ति को निर्मल भाव से करो।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आचार्य कुन्दकुन्ददेव तीर्थंकरों की साक्षीपूर्वक कहते हैं कि अहो! जिसप्रकार जगतगुरु तीर्थंकर भगवान ने शुद्धात्मा के दर्शन-ज्ञान-रमणता द्वारा उत्तम योगभक्ति से मुक्तिसुख पाया है; उसीप्रकार तू भी पुण्य-पापरूप पराश्रय एवं दुःखमय संसार की प्रवृत्ति से छूटकर असंग-अराग स्वरूप में ठहरकर अविनाशी निर्वृत्ति सुख को प्राप्त कर, उसी रीति को जानकर तू भी ऐसी उत्तम योगभक्ति को धारण कर![1]

यह भक्ति निजात्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली है। पुण्यादि व्यवहार, राग, तीर्थक्षेत्रादि संयोग के साथ सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है।

ऐसी शुद्धरत्नत्रयरूप योग की उत्तमभक्ति करने से परमनिर्वृत्तिरूपी वधू के अतिपुष्ट परिणमन में ऐसी गाढ़ एकाग्रता प्रगट होती है कि फिर उसका कभी विरह नहीं होता। असंख्य आत्मप्रदेशों में अत्यन्त आनन्दरूपी सुधारस के समूह से सिद्ध भगवंत परितृप्त हुए हैं।

उन्होंने अक्षय-अनंत निजानंद सरोवर में से शांतरस के समूहरूप मोक्षदशा अर्थात् पूर्ण पवित्र परिणति के अनुपम सुख को पाया है।

निज शुद्धात्ममहिमा धारक हे भव्यजीव! तुम भी निजात्मा को परम वीतरागी सुख की दाता ह्न ऐसी अंतरंग में निर्मल एकाग्रतारूप योग की भक्ति करो। अनादिकाल से आज तक हुए अनंत तीर्थंकरों ने भी ऐसी ही भक्ति की है, वे धन्य हैं।[2]''

परमभक्ति अधिकार के उपसंहार की इस गाथा और उसकी टीका में भरतक्षेत्र की वर्तमान चौबीसी का उदाहरण देते हुए यह कहा है कि जिसप्रकार ऋषभादि से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने निश्चयरत्नत्रय रूप इस परम योगभक्ति से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त किया है; उसीप्रकार हम सब भी इस योगभक्ति को धारण कर अनन्त अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने का अभूतपूर्व पुरुषार्थ करें ।।१४०।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४८-११४९ २. वही, पृष्ठ ११४९

उपसंहार की इस गाथा के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव सात छन्द लिखते हैं; जिसमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्माणिक्यमालार्चितान्।
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहतेः
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ।।२३१।।

(वीरछन्द)

शुद्धपरिणति गुणगुरुओं की अद्भुत अनुपम अति निर्मल।
तीन लोक में फैल रही है जिनकी अनुपम कीर्ति धवल ।।
इन्द्रमुकुटमणियों से पूजित जिनके पावन चरणाम्बुज।
उन ऋषभादि परम गुरुओं को वंदन बारंबार सहज ।।२३१ ।।

गुणों में बड़े, तीन लोक की पुण्य राशि, देवेन्द्रों के मुकुटों की किनारी में जड़ित प्रकाशमान मणियों की पंक्ति से पूजित, शचि आदि इन्द्राणियों के साथ इन्द्र द्वारा किये जानेवाले नृत्य, गान तथा आनन्द से शोभित तथा शोभा और कीर्ति के स्वामी राजा नाभिराय के पुत्र आदिनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों जिनवरों की मैं स्तुति करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ वृषभादि महावीर पर्यंत तीर्थंकरों के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि वे गुणों में महान हैं, त्रिलोकवर्ती उत्तम पुण्य परमाणु उनके शरीर में एकत्रित हो गये हैं।[1]

तीर्थंकरदेव का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि जिनके चरणों में सदा इन्द्र नमन करते हैं। जो देवेन्द्रों के मुकुटों द्वारा पूजे जाते हैं। ह्न ऐसे तीर्थंकरों की देह भी परमशांत, शीतल, स्थिर आनंदरूप है। जो सर्व-समाधानरूप सुख में नित्य तृप्त है। भव्यजीव जिनके दर्शन मात्र से अपने को धन्य अनुभव करते हैं।[2]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५० २. वही, पृष्ठ ११५०-११५१

जिसप्रकार बालक बिना संकोच के नाचता-गाता है। उसीप्रकार इन्द्रादि भी बिना संकोच के हर्ष विभोर होकर नाचते हैं। अन्तर में उमंगपूर्वक उछल-उछलकर चिदानंदघनस्वरूप वीतरागी शांत जिनबिम्ब की महिमा चित्त में ला-लाकर कहते हैं कि 'अहो धन्य है वीतरागता' ह्न इसप्रकार वे सदा भक्तिरस में उत्साहवान होते रहते हैं। यह व्यवहार भक्ति है। ऐसे धर्मात्मा जीव के इसप्रकार व्यवहार भक्ति के साथ ही सर्वप्रकार के राग का निषेध करनेवाली ज्ञातास्वरूप में एकाग्रतारूप निश्चयभक्ति होती है।[१]''

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति वाचक इस छन्द में उन्हें गुणों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, सर्वाधिक पुण्यशाली कहा गया है। इन्द्र लोग जब उनके चरणों में नमस्कार करते हैं, तब उनके मुकुटों में लगी मणियाँ भी उनके चरणों के स्पर्श का लाभ ले लेती हैं। इन्द्रों की इस भक्ति मुद्रा का वर्णन अनेक भक्ति रचनाओं में विविध प्रकार से हुआ है।।२३१।।

दूसरा व तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति ।।२३२ ।।
अपुनर्भवसुखसिद्ध्यै कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ।।२३३।।

(वीरछन्द)

ऋषभदेव से महावीर तक इसी मार्ग से मुक्त हुए।
इसी विधि से योगभक्ति कर शिवरमणी सुख प्राप्त किये।।२३२।।

(दोहा)

मैं भी शिवसुख के लिए योगभक्ति अपनाऊँ।
भव भय से हे भव्यजन इसको ही अपनाओ।।२३३।।

तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर भगवान तक के सभी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५१

तीर्थंकर जिनेश्वर भी इसी मार्ग से योगभक्ति करके मुक्तिरूपी वधू के सुख को प्राप्त हुए हैं।

मुक्ति सुख की प्राप्ति हेतु मैं भी शुद्धयोग की उत्तम भक्ति करता हूँ। संसार दु:ख के भयंकर भय से सभी जीव उक्त उत्तम भक्ति करो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त छन्दों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''उस भक्तिसुख की सिद्धि के अर्थ मैं भी शुद्धयोग की भक्ति करता हूँ। हे जगत के भव्यजीवो! यदि तुम्हें घोर-अपार संसार भ्रमण का भय हो, तो तुम भी नित्यशरणरूप निर्भय निज परमपद की प्राप्ति के लिए उस उत्तमभक्ति की निरन्तर उपासना करो, उसका सेवन करो।[१]''

इन छन्दों में मात्र यही कहा गया है कि ऋषभादि तीर्थंकरों ने इसी मार्ग से मुक्तिसुख को प्राप्त किया है; मैं भी इसी मार्ग पर जाता हूँ और आप सब भी इसी योगभक्ति के मार्ग पर चलो।।२३२-२३३।।

इसके बाद के चौथे छन्द में टीकाकार मुनिराज परमब्रह्म में लीन होने की भावना व्यक्त करते हैं। छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थित: ।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरो: सन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीने परब्रह्मणि ।।२३४।।

(वीरछन्द)

गुरुदेव की सत्संगति से सुखकर निर्मल धर्म अजोड़।
पाकर मैं निर्मोह हुआ हूँ राग-द्वेष परिणति को छोड़।।
शुद्धध्यान द्वारा मैं निज को ज्ञानानन्द तत्त्व में जोड़।
परमब्रह्म निज परमातम में लीन हो रहा हूँ बेजोड़।।२३४।।

गुरुदेव के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके ज्ञान

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५३

द्वारा मोह की समस्त महिमा नष्ट की है जिसने ह्न ऐसा मैं अब राग-द्वेष की परम्परारूप से परिणत चित्त को छोड़कर शुद्धध्यान द्वारा एकाग्र शान्त किये हुए चित्त से आनन्दस्वरूप तत्त्व में स्थिर रहता हुआ परमब्रह्म में लीन होता हूँ।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''उस भक्तिसुख की सिद्धि के अर्थ मैं भी शुद्धयोग की भक्ति करता हूँ। हे जगत के भव्यजीवो! यदि तुम्हें घोर-अपार संसार भ्रमण का भय हो, तो तुम भी नित्यशरणरूप निर्भय निज परमपद की प्राप्ति के लिए उस उत्तमभक्ति की निरन्तर उपासना करो, उसका सेवन करो।[१]

परम वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान द्वारा मैंने मोह की समस्त महिमा को (व्यवहार पराश्रय की रुचि को) नष्ट कर दिया है। और अब मन की चंचलता को छोड़कर शुद्धध्यान द्वारा एकाग्र शान्तचित्त से ज्ञानानन्द परिणति को ग्रहण करता हूँ। **नित्यानन्द स्वरूप सहजज्ञान में रहता हुआ निज परमब्रह्म परमात्मा में लीन होता हूँ। इसी का नाम सम्यक् योगभक्ति है।**[२]

निश्चय आत्मभक्ति ही मोक्ष का कारण है। पर की भक्ति तो शुभराग की कारण है ह्न आस्रव की कारण है; भले ही वह वीतरागी भगवान की ही क्यों न हो। निर्विकल्प ज्ञानानन्द में एकतारूप भक्ति द्वारा संसार निवृत्तिरूप मोक्ष होता है। इसलिए हे भव्य! सर्वप्रथम ऐसी श्रद्धा तो कर कि सर्व जीवों के लिए तीनों काल यह एक ही सत्य मार्ग उपादेय है।

धर्मस्वरूप भक्ति निश्चयभक्ति है और पुण्यरूप भक्ति व्यवहार भक्ति है।[३]''

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव परमब्रह्म में लीन होने की भावना व्यक्त कर रहे हैं। वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५३
२. वही, पृष्ठ ११५३-११५४
३. वही, पृष्ठ ११५४

रहे हैं कि मुझे यह सर्वोत्कृष्ट परम धर्म पूज्य गुरुदेव के सत्समागम से प्राप्त हुआ, उनके सान्निध्य में रहने से प्राप्त हुआ है। जिनागम का मर्म उनसे समझ कर जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है और जिसे मैंने अपने अनुभव से प्रमाणित किया है; उस ज्ञान के प्रताप से मेरा दर्शनमोह तो नष्ट हो ही गया है, चारित्रमोह की महिमा भी जाती रही; अत: अब मैं राग-द्वेष के पूर्णत: अभाव के लिए शुद्धध्यान द्वारा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व में स्थिर होता हूँ, परमब्रह्म में लीन होता हूँ।

तात्पर्य यह है कि तुम भी **यदि मोह का नाश करना चाहते हो, आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियानन्द को प्राप्त करना चाहते हो तो परमब्रह्म में लीन होने का प्रयास करो।** सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२३४।।

इसके बाद आनेवाले पाँचवें व छठवें छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुभ्)

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम् ।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ।।२३५।।
अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ।।२३६।।

(दोहा)

इन्द्रिय लोलुप जो नहीं तत्त्वलोलुपी चित्त।
उनको परमानन्दमय प्रगटे उत्तम तत्त्व ।।२३५।।
अति अपूर्व आतमजनित सुख का करें प्रयत्न।
वे यति जीवन्मुक्त हैं अन्य न पावे सत्य ।।२३६।।

इन्द्रिय लोलुपता से निवृत्त तत्त्व लोलुपी जीवों को सुन्दर आनन्द झरता हुआ उत्तम तत्त्व प्रगट होता है।

अति अपूर्व निज आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिए जो यति यत्न करते हैं; वे वस्तुत: जीवन्मुक्त होते हैं, अन्य नहीं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''कुदेवादि के प्रति रागभाव एवं हिंसादि अव्रतादिक के प्रति रागभाव पाप लोलुपतामय संसारप्रवृत्ति है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति आदि का रागभाव पुण्य लोलुपतामय संसारप्रवृत्ति है।

इसप्रकार की इन्द्रियलोलुपता रहित यथार्थ तत्त्वज्ञान के लिये अत्यन्त उत्सुकतारूप-रुचिरूप जिसका चित्त है, उसके निज शुद्धात्मा में से सुन्दर अतीन्द्रिय आनन्ददायक उत्तम तत्त्वज्ञान प्रकट होता है। आनन्द का झरना बहता है।[१]

निर्मल सत्य निरंजन स्वभाव की ओर झुकाव होना धर्म है और पराश्रयवृत्तिरूप शुभाशुभ भाव अधर्म है। इसप्रकार यह दो तथ्य एकदम भिन्न-भिन्न हैं।

इस श्लोक में इन्द्रियलोलुपता को छोड़कर तत्त्वज्ञान के प्रति लोलुपी/उत्सुक/रुचिवान होने की प्रेरणा दी गई है।[२]

पुण्यादि पराश्रयभाव की रुचि के अभावपूर्वक मात्र ज्ञानानन्द में गाढ़ भक्ति/एकाग्रतारूप भावना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।[३]

पुण्यास्रव संसार है और अति-अपूर्व अतीन्द्रिय आत्माश्रित निश्चय नय का विषयभूत परमपारिणामिकभाव धर्म है। उसके द्वारा अन्तरंग चैतन्यमात्र ज्ञातास्वरूप में जागृतिरूप यत्न करना चाहिये। वास्तव में जीव इसी से जीवनमुक्त और शिवसुखरूप होता है, अन्य से नहीं।[४]''

इन छन्दों में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कह दी गई है कि तत्त्व-लोलुपी जीवों को पंचेन्द्रिय विषयों की लोलुपता नहीं होती, पुण्य-पाप के स्वाद की लोलुपता नहीं होती। यही कारण है कि पंचेन्द्रिय विषयों की लोलुपता से दूर तत्त्वलोलुपी जीवों को अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए जो जीव अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं; वे जीव पुण्य-पाप कर्म और उनके फल में प्राप्त होनेवाले विषयभोग तथा शुभाशुभभावरूप लोलुपता से दूर रह **दृष्टि के विषयभूत ध्यान के एकमात्र ध्येय परमशुद्धनिश्चयनय के प्रतिपाद्य त्रिकाली ध्रुव निज आत्मतत्त्व के लोलुपी बनें, रुचिवन्त बनें, उसी में जमें-रमें;** क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द उसके आश्रय से ही प्रगट होता है ।।२३५-२३६।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५५
२. वही, पृष्ठ ११५५
३. वही, पृष्ठ ११५३-११५६
४. वही, पृष्ठ ११५६

इसके बाद समागत सातवाँ छन्द इस अधिकार का अन्तिम छन्द है; जो इसप्रकार है ह्र

(वसंततिलका)

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं
संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ।।२३७।।

(हरिगीत)

अद्वन्द्व में है निष्ट एवं अनघ जो दिव्यातमा।
मैं एक उसकी भावना संभावना करता सदा।।
मैं मुक्ति का चाहक तथा हूँ निष्पृही भवसुखों से।
है क्या प्रयोजन अब मुझे इन परपदार्थ समूह से।।२३७।।

जो परमात्मतत्त्व पुण्य-पापरूप अघ से रहित अनघ है और राग-द्वेषरूप द्वन्द में स्थित नहीं है; उस केवल एक की मैं बारंबार संभावना करता हूँ, भावना करता हूँ। संसार सुख से पूर्णतः निस्पृह और मोक्ष की स्पृहावाले मुझ मुमुक्षु के लिए इस लोक में अन्य पदार्थों के समूहों से क्या फल है, क्या लेना-देना है; वे तो मेरे लिए निष्फल ही हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''जो परमात्मतत्त्व पुण्य-पाप व्यवहार के द्वन्द में नहीं रहता और निर्मल निरूपाधिक आत्मश्रद्धा-ज्ञान-रमणता से साध्य है। उस केवल एक की ही मैं बारम्बार सम्यक् भावना भाता हूँ।

भवसुख से निस्पृह ह्र ऐसा मैं निर्मल ज्ञानघन में स्थिति द्वारा मुक्ति के लगाव वाला हूँ। अनित्य-अशुचि ह्र ऐसे पुण्य-पापादि पदार्थसमूह से मुझे क्या काम?[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५६-११५७

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव महाननिर्ग्रन्थ सन्त ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारी आत्मध्यान में मग्न और महावैराग्यवन्त सन्त थे। जिनके वस्त्रादि से रहित देहमात्र परिग्रह था। जो इन्द्रिय-विषय वृत्ति व प्रवृत्ति रहित अतीन्द्रिय आत्मशान्ति के विस्तार में स्थित थे। ह्न ऐसे परम वीतरागी सन्त ने सनातन मार्ग में यथार्थ भक्ति का वर्णन ह्न इस दसवें परमभक्त्यधिकार में किया है और लोक में जो भक्ति योग के बारे में विपरीतता चलती है, उसका निषेध किया है।[1]''

उपसंहार की इस अन्तिम गाथा में उस भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है; जो पुण्य-पाप के भावरूप अघ से रहित अनघ है और सभीप्रकार के द्वन्दों से रहित अद्वन्दनिष्ठ है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मैं भी उसी अनघ अद्वन्दनिष्ठ आत्मा की संभावना कर रहा हूँ, उसी की शरण में जा रहा हूँ और आप सभी भव्यात्माओं से अनुरोध करता हूँ कि आप सब भी उसी की शरण में जावें; क्योंकि **जो लोग संसार सुखों से निस्पृही हैं और सच्चे अर्थों में मुमुक्षु हैं; उन्हें मुक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ से क्या प्रयोजन है ?**

इसप्रकार हम देखते हैं कि परमभक्ति अधिकार में यही कहा गया है कि निज भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और लीनतारूप निश्चय-रत्नत्रय ही परमभक्ति है, निश्चयभक्ति है, निवृत्तिभक्ति है।

यद्यपि व्यवहारनय से मुक्तिगत सिद्धभगवन्तों की गुणभेदरूप भक्ति को भी परमभक्ति कहा गया है; तथापि मुक्ति की प्राप्ति तो अपने आत्मा को निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में स्थापित करनेवाले को ही प्राप्त होती है।।२३७।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य के समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमभक्ति अधिकार नामक दसवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५७

११

निश्चयपरमावश्यकाधिकार

(गाथा १४१ से गाथा १५८ तक)

नियमसार गाथा १४१

विगत दस अधिकारों में क्रमश: जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहार-चारित्र, परमार्थप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना, शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति की चर्चा हुई। अब इस ग्यारहवें अधिकार में निश्चय परम आवश्यक की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस अधिकार की पहली गाथा और नियमसार शास्त्र की १४१वीं गाथा की उत्थानिका लिखते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न

''अब व्यवहार छह आवश्यकों के प्रतिपक्षी शुद्धनिश्चय (शुद्ध निश्चय आवश्यक) का अधिकार कहा जाता है।''

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ।।१४१।।

(हरिगीत)

जो अन्य के वश नहीं कहते कर्म आवश्यक उसे।
कर्मनाशक योग को निर्वाण मार्ग कहा गया।।१४१।।

जो जीव अन्य के वश नहीं होता, उसे आवश्यक कर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्य वश नहीं होना ही आवश्यक कर्म है। कर्म का विनाश करनेवाला योगरूप परम आवश्यक कर्म ही निर्वाण का मार्ग है ह्न ऐसा कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ स्ववश को निश्चय आवश्यक कर्म निरन्तर होता है ह्न ऐसा कहा गया है।

विधि के अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल जो जीव निरन्तर अन्तर्मुखता के कारण अनन्यवश है, अन्य के वश नहीं है, साक्षात् स्ववश है; व्यवहारिक क्रिया के प्रपंच से पराङ्गमुख उस जीव को अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यानरूप परम आवश्यक कर्म होता है। परम तपश्चरण में निरंतर लीन रहनेवाले परमजिनयोगीश्वर ऐसा कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण कर्मों के नाश का हेतु, त्रिगुप्तिगुप्त परमसमाधि लक्षणवाला जो परमयोग है; वह ही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निवृत्ति मार्ग है, मुक्ति का कारण है। ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का जो शुभविकल्प साधकदशा में आता है; इन छह व्यवहार आवश्यकों से विरुद्ध यह शुद्ध निश्चय आवश्यक है। व्यवहार आवश्यक पुण्यबंध का कारण है और ज्ञानमात्र आत्मा में लीनतारूप निश्चय आवश्यक मोक्ष का कारण है; क्योंकि वास्तव में मोक्षमार्ग तो अरागी एकरूप है और व्यवहाररूप छह आवश्यक से प्रतिपक्ष/विरुद्ध है।[१]

साधक जीव को कमजोरी के कारण व्यवहार के विकल्प होते हैं, वे जानने योग्य हैं, ज्ञेय हैं; आदर करने योग्य नहीं हैं, उपादेय नहीं हैं।

मोक्षमार्ग वीतरागभावस्वरूप है। शुभरागरूप सामायिक, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग आदि बीच में आते हैं; परन्तु वे मोक्ष के साधन नहीं है। मैं शरीरादि की क्रिया का कर्त्ता नहीं हूँ। पुण्यादि व्यवहार की रुचि रहित हूँ। ह्न ऐसी निर्मल दृष्टि सहित श्रद्धा-ज्ञान-लीनतारूप वीतराग

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५९

मार्ग के आचरण में/ज्ञानानन्द में एकाग्र जीव सदा ही अन्तर्मुख होने से अन्यवश नहीं है, परन्तु स्ववश है। धर्मीजीव स्वाधीन सुखमय है। पराधीनदृष्टिवाले को कभी भी सुख नहीं है।[१]''

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव इतना ही है कि अवश का भाव आवश्यक है और पर के वश नहीं होना ही अवश है।

तात्पर्य यह है कि स्ववश अर्थात् स्वाधीन वृत्ति और प्रवृत्ति ही निश्चय परम आवश्यक है। मुनिराजों के होनेवाले स्तुति, वंदना आदि व्यवहार परम आवश्यक वास्तविक आवश्यक नहीं; क्योंकि वे पुण्यबंध के कारण हैं।

मुक्ति का कारण तो एकमात्र त्रिगुप्ति गुप्त परम समाधि लक्षणवाला परमयोग ही है और वही निश्चय परम आवश्यक है ।।१४१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है ह्न** ऐसा कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ।।६६ ।।[२]

(मनहरण)

विलीन मोह-राग-द्वेष मेघ चहुं ओर के,
चेतना के गुणगण कहाँ तक बखानिये।
अविचल जोत निष्कंप रत्नदीप सम,
विलसत सहजानन्द मय जानिये।।
नित्य आनंद के प्रशमरस में मगन,
शुद्ध उपयोग का महत्त्व पहिचानिये।
नित्य ज्ञानतत्त्व में विलीन यह आतमा,
स्वयं धर्मरूप परिणत पहिचानिये।।६६।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११६०

२. प्रवचनसार, कलश ५

इसप्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्यानंद के प्रसार से सरस आत्मतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान ज्योतिर्मय और सहजरूप से विलसित स्वभाव से प्रकाशित रत्नदीपक की भाँति निष्कंप प्रकाशमय शोभा को प्राप्त करता है।

घी या तेल से जलनेवाले दीपक की लों वायु के संचरण से कांपती रहती है और यदि वायु थोड़ी-बहुत भी तेज चले तो बुझ जाती है; परन्तु रत्नदीपक में न तो घी या तेल की जरूरत है और न वह वायु के प्रचंड वेग से काँपता ही है। जब वह कांपता भी नहीं तो फिर बुझने का प्रश्न नहीं उठता।

यही कारण है कि यहाँ ज्ञानानन्दज्योति की उपमा रत्नदीपक से दी गई है। क्षायोपशमिक ज्ञान और आनन्द; तेल के दीपक के समान अस्थिर रहते हैं, अनित्य होते हैं और क्षणभंगुर होते हैं; किन्तु क्षायिकज्ञान और क्षायिक आनन्द; रत्नदीपक के समान अकंप चिरस्थाई होते हैं।

शुद्धोपयोग के प्रसाद से होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख अकंप चिरस्थाई होने से परम उपादेय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''व्यवहाररत्नत्रय पुण्यास्रव है, वह पाप से बचने के लिए साधकदशा में होता है; परन्तु बंध का कारण होने से उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं होता। अरागी पूर्णस्वभाव का अवलम्बन ही एकमात्र मोक्षमार्ग है, वही परमावश्यक है। निर्विकल्प निज ज्ञानानन्द में अरागदशारूप एकाग्रता ही निश्चय आवश्यक है।[१]

कर्मक्षय में कुशल शुद्धोपयोगरूप मोक्ष का उपाय त्रिकाल एक ही है और वह है, अपनी आत्मा में लीन रहना। अतः मैं आत्मा में लीनतापूर्वक शीघ्र ही अद्‌भुत निर्विकल्प सुख को प्राप्त करता हूँ, प्रगट करता हूँ।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११६१

आत्मा का स्वभाव आत्मा में है, किसी अन्य पदार्थ में नहीं है। आत्मा का धर्म आत्मा में ही होता है ह्न यह नियत/पक्की मर्यादा है अर्थात् किसी देवादि परद्रव्य के द्वारा नहीं होता, पर के अवलम्बन से नहीं होता। किसी सम्मेदशिखरादि तीर्थक्षेत्र से, कल्याणक आदि काल से नहीं होता और व्यवहाररत्नत्रयरूप व्रतादि के शुभभाव से आत्मधर्म अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं होता। तीन काल तीन लोक में स्वाश्रय से ही/अरागी निश्चय रत्नत्रय से ही आत्मधर्म होता है ह्न ऐसा दृढ़निश्चय और एकाग्रपरिणति साधकदशा में होती है।

वहाँ शुभराग के समय परद्रव्य के प्रति झुकाव अर्थात् व्यवहारतीर्थ, व्यवहार पूजा-भक्ति आदि होते हैं; वे व्यवहार हैं।

सर्वत्र राग का निषेध करनेवाली अरागदृष्टि सहित राग की मंदतापूर्वक सम्मेदशिखरादि तीर्थक्षेत्र की वंदना के भाव को व्यवहार वन्दना आवश्यक कर्म कहा जाता है। इसीप्रकार छहों आवश्यकों के बारे में समझ लेना चाहिए।

आत्मा से ही आत्मा का कल्याण होता है ह्न यह त्रिकाल अबाधित नियम है; परसे कहना यह तो घी के घड़े की भाँति निमित्त मात्र कथन है, व्यवहार है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में निष्कम्प रत्नदीपक के उदाहरण के माध्यम से यही कहा गया है कि अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला शुद्धोपयोग ही निश्चय परम आवश्यक है।।६६।।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तौ
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यककर्मात्मकोऽयम्।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११६२-११६३

सोऽयं कर्मक्षयकरपटुर्निर्वृतेरेकमार्ग:
तेनैवाहं किमपि तरसा यामिं शं निर्विकल्पम् ।।२३८।।

(रोला)

जो सत् चित् आनन्दमयी निज शुद्धातम में।
रत होने से अरे स्ववशताजन्य कर्म हो ।।
वह आवश्यक परम करम ही मुक्तिमार्ग है।
उससे ही मैं निर्विकल्प सुख को पाता हूँ।।२३८।।

स्ववशजनित अर्थात् अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न आवश्यक कर्मरूप यह साक्षात् धर्म, सच्चिदानन्द की मूर्ति आत्मा में निश्चित ही अतिशयरूप से होता है। कर्मों के क्षय करने में कुशल यह धर्म, निवृत्तिरूप एक मार्ग है, मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।

उससे ही मैं शीघ्र ही अद्‌भुत निर्विकल्प सुख को प्राप्त होता हूँ।

इसप्रकार इस कलश में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि सच्चिदानन्दमयी निज शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शनपूर्वक होनेवाली आत्म-लीनता ही निश्चय परम आवश्यक कर्म है, साक्षात् धर्म है; उससे ही अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

निज शुद्धात्मा के आश्रय से अर्थात् निज आत्मा में अपनापन स्थापित करने से, उसे ही निजरूप जानने से और उसी में एकाग्र हो जाने से, जम जाने से, रम जाने से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्‌चारित्ररूप रत्नत्रय ही मुक्ति का एकमात्र साक्षात् मार्ग है, साक्षात् मुक्ति का मार्ग है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। अत: **सभी आत्मार्थियों का एकमात्र कर्त्तव्य शुद्धात्मा की उपलब्धि ही है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करना ही है ।।२३८।।** •

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है: यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा अधर्म है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

नियमसार गाथा १४२

निश्चय परमावश्यकाधिकार की पहली गाथा में निश्चय परम आवश्यक कर्म की सामान्य चर्चा करने के उपरान्त अब इस दूसरी गाथा में उसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ बताते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ।।१४२।।

(हरिगीत)

जो किसी के वश नहीं वह अवश उसके कर्म को।
कहे आवश्यक वही है युक्ति मुक्ति उपाय की।।१४२।।

जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश है और अवश का कर्म आवश्यक है ह्न ऐसा जानना चाहिए। यह अशरीरी होने की युक्ति है, उपाय है; इससे जीव अशरीरी होता है ह्न ऐसी निरुक्ति है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

"यहाँ अवश अर्थात् स्ववश-स्वाधीन परमजिन योगीश्वर को परम आवश्यक कर्म अवश्य होता है ह्न ऐसा कहा है।

अपने आत्मा को चारों ओर से ग्रहण करनेवाले जिस आत्मा को स्वात्मपरिग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी परपदार्थ के वश नहीं होने से अवश कहा जाता है; उस अवश परमजिनयोगीश्वर को निश्चय धर्मध्यान रूप परमावश्यक कर्म अवश्य होता है ह्न ऐसा जानना।

वह परम आवश्यक कर्म निरवयवपने (मुक्त होने) का उपाय है, युक्ति है। अवयव अर्थात् काय (शरीर)। काय का अभाव ही अवयव का अभाव है, निरवयवपना है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्यों के अवश जीव निरवयव है, अकाय है ह्न इसप्रकार निरुक्ति है, व्युत्पत्ति है।"

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिनके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान में पूर्ण स्वतंत्र आत्मवस्तु का निश्चय वर्तता है और इसके साथ अन्तरंग में स्थिरतारूप वीतरागचारित्र वर्तता है ह्न ऐसे परमजिनयोगीश्वरों को परम-आवश्यक कर्म अर्थात् स्वाभाविक आत्मपरिणतिरूप कार्य अवश्य होता है।[१]

सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि को जीतनेवाला ही योगी है। वह अपने पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप को ही स्व-परिग्रह मानता है, स्वाश्रय ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में जागृत रहता है, विपरीतभावों के वश नहीं होता। इसलिए ही उसे परवश न होनेवाला 'अवश' याने स्वतंत्र कहा गया है।[२]

'परवशता नहीं है' यह नास्ति से किया गया उपचार कथन है; क्योंकि जब स्वाश्रय ज्ञाता-दृष्टा रहता है, तब परवशतारूप विरुद्धभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसलिए **सम्यग्दृष्टि को भी योगी कहा जाता है।**[३]

अरे ! जिसे अभी जड़ से भिन्न चैतन्यसत्ता का भान नहीं है, उसे अपनी विकारी पर्याय स्वतंत्रपने अपने अपराध से होती है, और विकार स्वभाव में नहीं है। ह्न ऐसी सम्यक् दृष्टि प्रगट नहीं होती।[४]

जितना ज्ञानी अरागी निश्चयस्वभाव में स्थिर रहता है, उतना चारित्र-अपेक्षा स्ववश है। दृष्टि में तो पूर्णतः स्ववश ही है, मुक्त ही है। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से पराश्रय का अवलम्बन टूटता है ह्न यही मुक्ति की युक्ति है, मोक्ष का उपाय है। पराश्रय बंधभाव से पुण्यास्रव की पुष्टि करनेवालों की बात तो कुयुक्ति है; क्योंकि मुक्ति का उपाय निमित्त, पुण्य, व्यवहार या शरीर की क्रिया से तीन काल में भी नहीं होता।

स्वाश्रय निश्चयरत्नत्रय से ही मुक्ति होती है। इस अबाधित नियम को स्थापित करके मिथ्यात्व का त्याग करना ही सम्यक्युक्ति है।[५]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११६६
२. वही, पृष्ठ ११६६ ३. वही, पृष्ठ ११६६
४. वही, पृष्ठ ११६९ ५. वही, पृष्ठ ११७०

अवयव अर्थात् काय और काय से रहित निरवयपना है। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप आदि भावकर्म तथा जड़ द्रव्यकर्म आदि से मुक्त होने का तथा अनन्त ज्ञानानन्द की पूर्णता सहित होने का उपाय स्ववशता अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग है और उसका कारण त्रिकाली चिदानन्द निज परमात्मद्रव्य है।

व्यवहार व्रतादि शुभराग से पुण्यबंध होता है और मिथ्यात्व-अव्रतादि अशुभराग से पापबंध होता है तथा आत्माश्रित अरागी ज्ञान एवं शान्तिरूप स्ववशता से शक्तिरूप में विद्यमान बंधरहित अकेली स्वाधीन सुखदशा प्रगट होती है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि **किसी अन्य के वश नहीं होना ही अवश है और अवश का भाव आवश्यक है, परम आवश्यक है, निश्चय परम आवश्यक है। यह निश्चय परम आवश्यक ही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है, अशरीरी होने का उपाय है।**

अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनापन स्थापित करना, उसे ही निजरूप जानना-मानना और उसमें लीन हो जाना ही स्ववशता है। इस स्ववशता को ही यहाँ परम आवश्यक कर्म कहा गया है। इसके विरुद्ध परपदार्थों और उनके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों में अपनापन ही परवशता है। यह परवशता आत्मा का कर्त्तव्य नहीं है, आत्मा के लिए आवश्यक कर्म नहीं है; क्योंकि वह अवस्था बंधरूप है, बंध की कारण है।।१४२।।

इसके उपरांत टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इस प्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः।
तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्ज्योतिःस्फुटितसहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात्।।२३९।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७०-११७१

(रोला)

निज आतम से भि न्न किसी के वश में न हो।
स्वहित निरत योगी नित ही स्वाधीन रहे जो।।
दुरिततिमिरनाशक अमूर्त्त ही वह योगी है।
यही निरुक्तिक अर्थ सार्थक कहा गया है।।२३९।।

स्वहित में लीन रहता हुआ कोई योगी शुद्धजीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता। उसका इसप्रकार सुस्थित रहना ही निरुक्ति है, व्युत्पत्ति से किया गया अर्थ है। ऐसा होने से अर्थात् पर के वश न होकर स्व में लीन रहने से दुष्कर्मरूपी अंधकार का नाश करनेवाले उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा सहज अवस्था प्रगट होने से अमूर्त्तपना होता है।

इस छन्द के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पुण्य-पाप के वश होना ही संसार है और पुण्य-पाप से पार निज चिदानन्द आत्मस्वभाव की श्रद्धापूर्वक उसमें स्थिर होना ही अवशपना है, स्ववशपना है। जिसने स्वाश्रयपूर्वक पुण्य-पापमय दुष्कृतरूपी अंधकार समूह का नाश किया है। ऐसे योगी को सदा प्रकाशमान ज्ञानानन्दज्योति द्वारा सहजदशा प्रगट होने से अमूर्तपना अर्थात् साक्षात् सिद्ध/मुक्त परमात्मदशा प्रगट होती है।[१]''

उक्त छन्द का सार यह है कि **आत्मकल्याण में पूर्णतः समर्पित योगी अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी समर्पित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वह सदा स्ववश ही रहता है, अन्य के वश नहीं होता।**

दुष्कर्म का नाश करनेवाला ऐसा योगी सदा प्रकाशमान ज्ञानज्योति द्वारा अमूर्तिक ही रहता है, मूर्तिक शरीर से एकत्व-ममत्व से रहित वह आत्मस्थ ही रहता है; फलस्वरूप अमूर्तिक ही है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की आराधना करनेवाला सच्चा योगी अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी एकत्व-ममत्व धारण नहीं करता, किसी अन्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं बनता। उसकी यही वृत्ति और प्रवृत्ति उसे स्ववश बनाती है।।२३९।।

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७१-११७२

नियमसार गाथा १४३

इस निश्चय परम आवश्यक अधिकार की आरंभ की दो गाथाओं में अन्य के वश से रहित स्ववश की चर्चा की; अब इस तीसरी गाथा में अन्यवश की बात करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे।।१४३।।

(हरिगीत)

अशुभभाव सहित श्रमण है अन्यवश बस इसलिये।
उसे आवश्यक नहीं यह कथन है जिनदेव का।।१४३।।

जो श्रमण अशुभभाव सहित वर्तता है, वह श्रमण अन्यवश है; इसलिए उसके आवश्यक कर्म नहीं है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसा कहा है कि भेदोपचार रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को अवशपना नहीं है ह्न ऐसा कहा है।

जो श्रमणाभास द्रव्यलिंगी अप्रशस्तरागादिरूप अशुभभावों में वर्तता है, वह निजस्वरूप से भिन्न परद्रव्यों के वशीभूत होता है। इसलिए उस जघन्य रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यानरूप परमावश्यक कर्म नहीं है।

वह श्रमणाभास तो भोजन के लिए द्रव्यलिंग धारण करके स्वात्म कार्य के विमुख रहता हुआ परमतपश्चरणादि के प्रति उदासीन जिनेन्द्र भगवान के मंदिर अथवा जिनमंदिर के स्थान, मकान, धन, धान्यादि को अपना मानता है, उनमें अहंबुद्धि करता है, एकत्व-ममत्व करता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''समयसार ग्रन्थाधिराज के आस्रव अधिकार में तो ज्ञानी को भी

जघन्यरत्नत्रय कहा है। यहाँ व्यवहार मात्र में ही लीन मिथ्यादृष्टि को जघन्य अर्थात् हीनपरिणतिवाला कहा है। यहाँ शैली ऐसी है कि **जिनके मात्र व्यवहाररत्नत्रय का ही आश्रय है, वे व्यवहार से शुभसहित होने पर भी निश्चय से तो अशुभ सहित ही हैं; क्योंकि शुद्ध, असंग, अतीन्द्रिय निजसुखस्वरूप भगवान आत्मा का उन्हें भान नहीं है।** वे व्यवहार क्रिया से धर्म मानते हैं। अतः वे भले ही सच्चे देव-गुरु शास्त्र की श्रद्धा, आगमज्ञान और व्यवहारसंयम पालते हों; परन्तु उनके आस्रव की भावना वर्तती होने से उनकी परिणति जघन्य है – हीन है। खोटे हीरे की तरह उनका रत्नत्रय झूठा है – अशुभ है। वे मात्र द्रव्यलिंग धारण करके स्वात्मकार्य से विमुख रहते हुए यथार्थ तपश्चरण आदि के प्रति उदासीन रहते हैं और मात्र पराश्रयभूत व्यवहार में ही उत्साही होते हैं।[१]

कुन्दकुन्दाचार्य आदि महामुनिनाथ जैसे नग्न दिगम्बर भावलिंगी संत कहते हैं कि अकेले व्यवहार की रुचिवाले परद्रव्य में कर्तृत्व-ममत्वबुद्धि और आत्मानन्द की अरुचिरूप अशुभभाव से मात्र अपना पेट भरने के लिए ही मुनिभेष धारण करते हैं। – ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रति उदासीन और व्यवहार के प्रति उत्साहवान जीव संसारमार्गी-संसारी ही हैं।[२]

अहाहा ! जिसे शुद्ध आत्मा का भान भी नहीं है, उसे स्ववशपना कहाँ से होगा ? जिसप्रकार अज्ञानी अपने को पर का कर्त्ता मानता है; उसीप्रकार द्रव्यलिंगी मुनि भी यदि ऐसा माने कि मैं पाठशाला, मकान, मन्दिर आदि का कर्त्ता हूँ या अमुक कार्य करा सकता हूँ, तो वह भी अज्ञानी ही है। परद्रव्य की पर्याय आत्मा कर ही नहीं सकता। पर से भिन्न निज-आत्मा को जानकर उसमें लीन होना ही अवशपना है अर्थात् आवश्यक कार्य है।[३]''

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ तात्पर्यवृत्ति नामक टीका

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७५
२. वही, पृष्ठ ११७६ ३. वही, पृष्ठ ११७७

में मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव अत्यन्त स्पष्ट और कठोर शब्दों में कह रहे हैं कि जघन्य रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को निश्चय धर्मध्यानरूप परमावश्यक कर्म नहीं है। उसने भोजन के लिए द्रव्यलिंग (नग्न दिगम्बर दशा) धारण किया है।[१] वह जिनमंदिर और उसकी जमीन, मकान, धन-धान्य को अपना मानता है, उस पर अधिकार जमाता है।

इससे प्रतीत होता है कि **आज से हजार वर्ष पहले उनके समय में भी इसप्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ चल पड़ी थीं और उनका निषेध भी बड़ी कड़ाई के साथ किया जा रहा था।।१४३।।**

इसके बाद मुनिराज पाँच छन्द लिखते हैं, उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वांतपुंजायमानम्।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ।।२४०।।

(ताटंक)

त्रिभुवन घर में तिमिर पुंज सम मुनिजन का यह घन नव मोह।
यह अनुपम घर मेरा है - यह याद करें निज तृण घर छोड़।।२४०।।

मानो जैसे तीन लोकरूपी मकान में घना अंधकार प्रगाढ़रूप से भरा हो, वैसा ही द्रव्यलिंगी मुनियों का यह अभिनव तीव्र मोह है; जिसके वश वैराग्यभाव से घास के घर को छोड़कर भी वे वसतिका (मठादि) में एकत्व-ममत्व करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ह्न इसप्रकार त्रिलोकरूपी मकान में रहे हुए अंधेरे के समान अज्ञानियों का मोह है। यहाँ कह रहे हैं

१. अशनार्थं द्रव्यलिंगं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन्..

कि जिस जीव ने पहले तो वैरागी होकर राजपाट, हाथी, घोड़ा, महल, मकानादि समस्त परद्रव्यों को, यहाँ तक कि घास की झोंपड़ी को भी छोड़कर मुनिदशा अंगीकार कर ली है; और बाद में मुनि-अवस्था में 'यह मेरा अनुपम घर' इसप्रकार मोह से (मठादि में) ममता करता है। तात्पर्य यह है कि उसके आत्मवश ऐसा आवश्यक कार्य नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि अरे ! तेरी ऋद्धि तो तेरे अन्दर में है, मकान आदि में तेरी ऋद्धि नहीं है।[१]''

इस छन्द में आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि **जिसने वैराग्यभाव से समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर दशा स्वीकार की; वह उत्कृष्ट पद प्रतिष्ठित होने पर भी वे मठ-मन्दिरादि में एकत्व-ममत्व करते हैं। यह सब कलयुग का ही माहात्म्य है।।२४०।।**

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः।
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः।।२४१।।

(ताटंक)

ग्रन्थ रहित निर्ग्रंथ पाप बन दहें पुजें इस भूतल में।
सत्यधर्म के रक्षामणि मुनि विरहित मिथ्यामल कलि में।।२४१।।

कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्व आदि कीचड़ से रहित सद्धर्मरूपी रक्षामणि के समान समर्थ मुनिपद धारण करता है, जिसने सभी प्रकार के परिग्रहों को छोड़ा है और जो पापरूपी वन को जलानेवाली अग्नि के समान है; ऐसे वे मुनिराज इस कलयुग में भी सम्पूर्ण भूतल में और देवलोक के देवों से भी पूजे जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७८-११७९

''पंचमकाल में कहीं कोई भाग्यशाली सत्पुरुषार्थी जीव मिथ्यात्व आदि मलरहित निर्विकल्प आत्मदशारूप आवश्यक को अंगीकार करता है, वह सत्यार्थ चिदानंद में जागृत रहता हुआ स्वयं ही स्वाश्रित वीतराग धर्म की मिथ्याभावों से रक्षा करने में समर्थ होता है ह्न ऐसे वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों को ही यहाँ सद्धर्मरक्षामणि कहा गया है।[१]

जिन्होंने सर्व परिग्रहों के विस्तार को छोड़ा है, जिनके पर के ग्रहण-त्यागरहित अपने ज्ञानमात्र स्वभाव के भानपूर्वक वस्त्र-पात्रादि के त्यागपूर्वक शरीरमात्र परिग्रह है। पीछी-कमण्डल भी उपचरित परिग्रह है। संयमहेतु शरीर संबंधी आहार-विहार की अपेक्षा देहमात्र परिग्रह है और जो पुण्य-पापरूपी महाभयंकर जंगल को जलानेवाली अग्नि है अर्थात् वे मुनिराज चैतन्य में ऐसे एकाग्र हो रहे हैं कि उन्हें विभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती। ह्न ऐसे मुनिराज को इस समय मनुष्य लोक में तो पूज्यता है ही, **वे देवलोक में भी देवों द्वारा भलेप्रकार पूज्य हैं अर्थात् वे स्वर्ग में जाकर महर्द्धिकदेव का पद प्राप्त करते हैं।**[२]''

इस कलश में यही कहा गया है कि यद्यपि आत्मानुभवी स्ववश मुनिराजों के दर्शन सुलभ नहीं हैं; तथापि ऐसा भी नहीं है कि उनके दर्शन असंभव हों। उनका अस्तित्व आज भी संभव है और पंचमकाल के अन्त तक रहेगा।

दुर्भाग्य से यदि आपको आज सच्चे मुनिराजों के दर्शन उपलब्ध नहीं हैं तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि इस काल में सच्चे मुनिराजों का अस्तित्व ही संभव नहीं है; क्योंकि शास्त्रों के अनुसार उनका अस्तित्व पंचमकाल के अन्त तक रहेगा।।२४१।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता।
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७९-११८०
२. वही, पृष्ठ ११८०

परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जडमतिः ।।२४२ ।।

(ताटंक)

मतिमानों को अतिप्रिय एवं शत इन्द्रों से अर्चित तप।
उसको भी पाकर जो मन्मथ वश है कलि से घायल वह।।२४२।।

सौ इन्द्रों से भी सतत् वंदनीय तपश्चर्या लोक में सभी बुद्धिमानों को प्राणों से भी प्यारी होती है। ऐसी तपश्चर्या प्राप्त करके भी जो जीव कामान्धकार सहित सांसारिक सुखों में रमता है; वह स्थूलबुद्धि कलिकाल से मारा हुआ है।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सौ इन्द्रों द्वारा वंदनीय महान मुनिवेश धारण करके भी जो भोगादि में सुख मानता है, वह कामान्धकाररूप संसार से उत्पन्न सुख में रमता है। वह व्यवहार का पक्ष करके पुण्यादि विकारीभावों में उत्साही होकर ज्ञातास्वभाव का विरोध करता है। वह जड़मति है।[१]''

विगत छन्द के समान इस छन्द में भी यही कहा गया है कि **जो तप शत इन्द्रों से वंदनीय है; उसे प्राप्त कर भी जो विषयों में रमता है, वह कलयुग का मारा हुआ है, अभागा है।**

तात्पर्य यह है कि तप एक महाभाग्य से प्राप्त होनेवाला आत्मा का सर्वोत्कृष्ट धर्म है; उसे शास्त्रों में निर्जरा का कारण कहा गया है।

ऐसे परमतप को प्राप्त करके भी जो विषयों में रमते हैं, उनके अभाग्य की महिमा तो हम से हो नहीं सकती।।२४२।।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङ्नित्यम्।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ।।२४३ ।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८१

(ताटंक)

मुनि होकर भी अरे अन्यवश संसारी है, दुखमय है।
और स्ववशजन सुखी मुक्त रे बस जिनवर से कुछ कम है।।२४३।।

जो जीव अन्यवश है, वह भले ही मुनिवेश धारी हो, तथापि संसारी है, संसार में भटकनेवाला है; सदा ही दुखी है, दुःख भोगनेवाला है और जो जीव स्ववश है, वह जीवन्मुक्त है; जिनेन्द्र भगवान से थोड़ा ही कम है, एक प्रकार से जिनेन्द्र समान ही है।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**ज्ञानस्वरूप में लीनता की दृष्टिपूर्वक वीतरागतारूप स्ववश रहनेवाला जीवन्मुक्त है।**[१]

बाह्यपदार्थों के त्याग करनेवाले को लोक भी त्यागी कहता है और वह स्वयं भी अपने को त्यागी मानता है। ऐसा होने पर भी वह पुण्यादि विकार से लाभ मानता है। अतः उसने किसी भी प्रकार संसार का त्याग नहीं किया। उसने तो सभी मिथ्यात्वरूपी अनंत संसार को भले प्रकार पकड़ रखा है। अतः वह मुनिवेषधारी जीव बाह्य में व्रत-तप आदि करते हुए भी सदा दुःख भोगनेवाला संसारी है और चैतन्यस्वरूप सहजानंद के आश्रय से ही लाभ माननेवाले अन्तर्लीन पुरुष जिनेश्वर से किंचित् न्यून हैं, वे वीतरागचारित्र के कारण जिनेश्वरपद अर्थात् पूर्ण वीतरागतापूर्वक शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि उनके मोक्ष निकट है।

वीतरागी श्रद्धा अपेक्षा तो वह पूर्ण जिन है और चारित्र में आंशिक जिन है, पूर्णता के सन्मुख है। यहाँ मोक्ष के साक्षात् कारणस्वरूप निश्चय चारित्र की मुख्यता की अपेक्षा वर्णन है, अपूर्णज्ञान की अपेक्षा नहीं।[२]''

इस छन्द में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए एकदम साफ शब्दों में कह दिया गया है कि **जो जीव अन्यवश हैं; वे भले मुनिवेशधारी हों तो भी संसारी हैं, संसार समुद्र में गोता लगानेवाले हैं और जो जीव स्ववश हैं; वे जीवन्मुक्त हैं।** वे जिनेन्द्र भगवान के समान ही हैं; बस जिनेन्द्र भगवान

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८१ २. वही, पृष्ठ ११८२

से कुछ ही कम हैं। तात्पर्य यह है कि वे अल्पकाल में ही भगवान बननेवाले हैं।।२४३।।

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे ।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ।।२४४ ।।

(ताटंक)

अतःएव श्री जिनवर पथ में स्ववश मुनि शोभा पाते।
और अन्यवश मुनिजन तो बस चमचों सम शोभा पाते।।२४४।।

इसीलिए स्ववश मुनि ही मुनिवर्ग में शोभा पाता है; अन्यवश मुनि तो उस चापलूस नौकर के समान है कि जो भले ही अपनी चापलूसी के कारण थोड़ी-बहुत इज्जत पा जाता हो, पर शोभा नहीं देता।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसप्रकार जिननाथ के मार्ग में नित्यस्वरूपप्रत्यक्ष कारण परमात्मा के सन्मुख चिदानंद में लीन मुनि ही शोभा देते हैं; व्यवहार, पुण्य-पाप एवं विकल्पों के वश बहुत प्रकार की शुभक्रिया करनेवाले निमित्ताधीन दृष्टिवान जीव वीतरागमार्ग में सुशोभित नहीं होते। वे अन्यवश पराश्रय दृष्टिवान पुरुष अपने मालिक को मात्र खुशामद करके खुश करनेवाले मूर्ख नौकर की भाँति शोभा नहीं देते अर्थात् व्यवहार व्रतादि क्रियाकाण्ड द्वारा लोकरंजन करनेवाले को लोग अच्छा माने; परन्तु वे आत्मानुभव रहित होने से, निश्चय-आवश्यकस्वरूप एकाग्र आनन्द में लीन मुनियों में शोभा नहीं देते।[१]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि स्ववश मुनिराज ही शोभास्पद हैं, अन्यवश नहीं।।२४४।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८३

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। ह्न **गागर में सागर, पृष्ठ-२०**

नियमसार गाथा १४४

विगत गाथाओं में स्ववश और अन्यवश मुनिराज की चर्चा चल रही है। इस गाथा में भी उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कुछ गंभीर प्रमेय उपस्थित करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ।।१४४ ।।

(हरिगीत)

वे संयमी भी अन्यवश हैं जो रहें शुभभाव में।
उन्हें आवश्यक नहीं यह कथन है जिनेदव का।।१४४।।

जो संयमी जीव शुभभाव में प्रवर्तता है; वह वस्तुतः अन्यवश है; इसलिए उसे आवश्यकरूप कर्म नहीं है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में भी अन्यवश अशुद्ध अन्तरात्मा जीव का लक्षण कहा गया है।

जो श्रमण जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए परम आचार शास्त्र के अनुसार सदा संयत रहता हुआ शुभोपयोग में रहता है, प्रवर्तता है; व्यावहारिक धर्मध्यान में रहता है; इसलिए चरण करण प्रधान है, आचरण आचरने में प्रधान है; स्वाध्याय काल का अवलोकन करता हुआ स्वाध्याय करता है; प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) करता है; तीन संख्याओं के समय अर्थात् प्रातः, दोपहर और सायंकाल भगवान अरहंत परमेश्वर की लाखों स्तुतियाँ मुख से बोलता है; तीन काल नियम परायण रहता है; इसप्रकार दिन-रात ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है; पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक (वार्षिक) प्रतिक्रमण सुनने से उत्पन्न संतोष से जिसका धर्मशरीर रोमांचित होता है; अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्ति-

परिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश नाम के छह बाह्य तपों में जो सदा उल्लसित रहता है; स्वाध्याय, ध्यान, शुभ आचरण से च्युत होने पर पुन: उनमें स्थापनरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य और व्युत्सर्ग नामक आभ्यन्तर तपों के अनुष्ठान में जो कुशलबुद्धिवाला है; परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन मोक्ष के साक्षात् कारणरूप स्वात्माश्रित आवश्यक कर्म को निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चय धर्मध्यान को, शुक्लध्यान को नहीं जानता; इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से उसे अन्यवश कहा गया है।

जिसका चित्त तपश्चरण में लीन है, ऐसा वह अन्यवश श्रमण देवलोकादि के क्लेश की परम्परा प्राप्त होने से शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्तरागरूप अंगारों से सिकता हुआ, आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानस्वरूप शुद्ध निश्चय परिणति द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय परिणति प्राप्त होने पर ही निर्वाण को प्राप्त करता है।''

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ पराश्रय की श्रद्धा अर्थात् व्यवहार में लीन ऐसे अन्यवश अशुद्ध-अन्तरात्मा का लक्षण कहा जाता है।

जो श्रमण वास्तव में जिनेन्द्र देव की दिव्यध्वनि में बताये गये परमावश्यक के लिए जिसप्रकार शास्त्र में व्यवहार क्रिया का अधिकार है, उसप्रकार पालता है अर्थात् व्यवहारमात्र में सदा संयत रहता हुआ दया-दान एवं व्रतादि शुभोपयोग में प्रवर्तता है, पराश्रित व्यवहार धर्मध्यान में रुकता है - अटकता है, वह शुभकर्मचेतना के आचरण में ही सदा तत्पर रहता हुआ स्वाध्याय आदि ग्यारह क्रियाओं को इसप्रकार करता है :-

(१) स्वाध्यायकाल का ध्यान रखता हुआ स्वाध्याय की क्रिया करता है अर्थात् शास्त्रों को पढ़ता है, पढ़ाता है।

(२-५) प्रतिदिन निर्धारित समय पर एक बार आहार करके चतुर्विध आहार का त्याग करता है।

(६-८) तीन संध्याओं के समय अर्थात् प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल अपने मुखकमल से भगवान अरहंत परमेश्वर की स्तुति बोलता है।

(९-११) तीनों काल व्यवहार नियमों में तत्पर-सावधान रहता है।

इसप्रकार दिन-रात उक्त ग्यारह क्रियाओं में सदा तत्पर रहता है।[1]''

यद्यपि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो जीव संयत होने पर भी शुभभाव में प्रवर्त्तता है, वह अन्यवश है; इसलिए उसे आवश्यकरूप कर्म नहीं है; तथापि तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव गाथा का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए आरंभ में ही लिख देते हैं कि इस गाथा में अशुद्ध अन्तरात्मा का कथन है।

'संयत' पद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वह जिनागम संयत आचरण का पालन करता है, जिनागम का अध्ययन करता है, प्रत्याख्यान करता है, अर्हन्त भगवान की स्तुति करता है, प्रतिक्रमण करता है; अनशनादि छह बाह्य तप और प्रायश्चित्तादि छह अंतरंग तपों में उत्साहित रहता है।

इसप्रकार वह न केवल जिनागम का अध्येता है, अपितु उसे जीवन में अपनाता भी है, आचरण में भी लाता है। ऐसा संयत होने पर भी अन्यवश ही है, स्ववश नहीं, निश्चय परमावश्यक का धारी नहीं है; क्योंकि परमतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परिणमित नहीं होता। इसलिए वह अन्यवश ही है, स्ववश नहीं।

उसके भविष्य के बारे में उनका कहना यह है कि वह अन्यवश श्रमण शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्तरागरूप अंगारों से सिकता हुआ क्लेश पाता है।

अन्त में ऐसा भी लिखते हैं कि वह आसन्नभव्य सद्गुरु के प्रसाद

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७६-११७७

से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप शुद्धनिश्चय परिणति के द्वारा निर्वाण को प्राप्त करता है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति पर गंभीरता से विचार करने पर विचारणीय बात यह है कि टीकाकार मुनिराज सबसे तो यह कह देते हैं कि **यह अशुद्ध अन्तरात्मा का कथन है** और बीच में यह भी कहते हैं कि **वह परमतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान को नहीं जानता।**

इसीप्रकार उसकी स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि वह अन्यवश श्रमण शुभोपयोग के फलस्वरूप **प्रशस्तरागरूप अंगारों में सिकता हुआ क्लेश पाता है।** अन्ततः यह कह देते हैं कि वह आसन्नभव्य सद्गुरु के प्रसाद से प्राप्त **परमतत्त्व के श्रद्धान–ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चय परिणति के द्वारा निर्वाण को प्राप्त करता है।**

उक्त स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि वह ज्ञानी है या अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि ? क्योंकि अन्तरात्मा तो सम्यग्दृष्टि ही होते हैं; पर अन्तरात्मा के साथ यहाँ अशुद्ध विशेषण लगा हुआ है और यह भी कहा है कि वह निश्चयधर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को नहीं जानता। उक्त स्थिति में वह अज्ञानी जैसा लगने लगता है।

यह तो साफ ही है कि वह स्ववश नहीं है, परवश है। परवश के निश्चय परमावश्यक नहीं होते ह्न यह भी स्पष्ट है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति पर गंभीर मंथन करने पर यही स्पष्ट होता है कि यहाँ भी उसीप्रकार का प्रस्तुतीकरण है, जैसाकि समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में स्वसमय और परसमय के संदर्भ में किया गया है। यहाँ प्ररूपित परवश श्रमण श्रद्धा के दोषवाला अज्ञानी नहीं है, अपितु शुभोपयोगरत ज्ञानी जीव ही है।

स्वसमय और परसमय के संदर्भ में विशेष जानकारी के लिए समयसार अनुशीलन भाग १, पृ. २५ से ३५ तक एवं प्रवचनसार अनुशीलन भाग २, पृ. ११ से २२ तक अध्ययन करना चाहिए।।१४४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो
भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम्।
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणात्मकं
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः।।२४५।।

(ताटंक)

अतः मुनिवरो देवलोक के क्लेशों से रति को छोड़ो।
सुख-ज्ञान पूर नय-अनय दूर निज आतम में निज को जोड़ो।।२४५।।

हे मुनिपुंगव ! देवलोक के क्लेश के प्रति रति छोड़ो और मुक्ति का कारण जो सहज परमात्मा है, उसको भजो। वह सहज परमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरण है तथा नय और अनय के समूह से दूर है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि हे मुनिवर! स्वर्गलोक आदि के पुण्यपद के क्लेश के प्रति रति छोड़ो। दया–दान–सामायिक आदि के विकल्प की रुचि के फल में प्राप्त नवग्रेवैयक के पुण्यरूप क्लेश की रुचि को नित्यानन्द की रुचि द्वारा छोड़ दो। उसमें किञ्चित भी कल्याण नहीं होता और निर्वाण का कारण शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग है, उसका कारण जो कारणपरमात्मा सहज चिदानन्दस्वरूपी है, उसको भजो। वह सहज परमात्मा नित्य परमानन्दमय है। अतः तुम उसमें ही सदा सन्तुष्ट, तृप्त, लीन हो जाओ।[१]''

उक्त कलश में स्वर्ग सुखों के प्रति आकर्षण को छोड़ने और अपने त्रिकाली ध्रुव सहज आत्मा को भजने का उपदेश दिया गया है।।२४५।।

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८१

नियमसार गाथा १४५

विगत गाथा में अन्यवश का स्वरूप स्पष्ट किया था। इस गाथा में भी उसी के स्वरूप को और विशेष स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं।।१४५।।

(हरिगीत)

विकल्पों में मन लगावें द्रव्य-गुण-पर्याय के।
अरे वे भी अन्यवश निर्मोहजिन ऐसा कहें।।१४५।।

जो द्रव्य, गुण, पर्यायों में या तत्संबंधी विकल्पों में मन लगाता है, वह भी अन्यवश है। मोहांधकार रहित श्रमण ऐसा कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ भी अन्यवश का स्वरूप कहा है। अरहंत भगवान के मुखार-बिन्द से निकले हुए मूल और उत्तर पदार्थों का अर्थ सहित प्रतिपादन करने में समर्थ कोई द्रव्यलिंगधारी मुनि कभी छह द्रव्यों के चिन्तवन में चित्त लगाता है; कभी उनके मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन गुणों के चिन्तवन में मन लगाता है; कभी उनकी अर्थ पर्यायों के व व्यंजनपर्यायों के चिन्तवन में बुद्धि को लगाता है; परन्तु त्रिकाल निरावरण नित्यानन्द लक्षणवाले निज कारण समयसार स्वरूप में निरत सहज ज्ञानादि शुद्ध गुण पर्यायों के आधारभूत निज आत्मतत्त्व में चित्त को कभी भी नहीं लगाता; उस तपोधन को भी इसकारण से ही, विकल्पों के वश होने के कारण से ही अन्यवश कहा गया है।

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी अंधकार समूह का नाश करनेवाले और परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के पान में तत्पर श्रमण ही वस्तुत: महाश्रमण है, परमश्रुतकेवली हैं। उन्होंने अन्यवश का स्वरूप ह्न ऐसा कहा है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिनको आत्मानुभव नहीं हुआ है – ऐसे पराश्रय दृष्टिवान तपोधन शुभविकल्पों में धर्म मानकर राग में अटके हुए हैं; इसलिए वे अन्यवश हैं। वे भेद एवं विकार के स्वामी होते हैं, अभेदस्वभाव के स्वामी नहीं होते।

जिन्होंने दर्शनमोह व चारित्रमोहरूपी अन्धकार समूह का नाश किया है और जो अखण्डानन्द निजपरमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के स्वाद में तत्पर हैं। – ऐसे श्रमण ही वास्तव में श्रमण हैं, महाश्रमण हैं, परमश्रुतकेवली हैं। उन्होंने ही उपरोक्त प्रकार से अन्यवश का स्वरूप कहा है।

बाह्यव्रतादि के विकल्पों में उलझे व्यक्ति को तो धर्म है ही नहीं; परन्तु अपने अन्दर के द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के – विकल्प के वश रहनेवाले के भी धर्म नहीं है, क्योंकि राग में एकाग्र रहनेवाला उपयोग अरागी चैतन्य में कैसे जुड़ सकता है? अर्थात् परावलम्बन में – पर के साथ जुड़ान में तो राग की ही उत्पत्ति होती है, वहाँ वीतरागी शान्ति प्रगट नहीं होती।[१]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि **जिनेन्द्र भगवान की वाणी में प्रतिपादित द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन-मनन में जुटे रहनेवाले मुनिराज भी यदि समयसारस्वरूप निज आत्मा में अपने चित्त को नहीं लगाते, उसमें जमते-रमते नहीं हैं तो वे इसकारण ही परवश हैं; उनके निश्चय परम आवश्यक नहीं है।।१४५।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथा चोक्तं ह्न तथा कहा भी है ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परिचिन्तया।।६७।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८०-११८१

(दोहा)

ब्रह्मनिष्ठ मुनिवरों को दृष्टादृष्ट विरुद्ध।
आत्मकार्य को छोड़ क्या परचिन्ता से सिद्ध॥६७॥

आत्मकार्य को छोड़कर दृष्ट (प्रत्यक्ष) और अदृष्ट (परोक्ष) से विरुद्ध चिन्ता से, चिन्तवन से ब्रह्मनिष्ठ मुनियों को क्या प्रयोजन है ?

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिनको आत्मानुभव नहीं हुआ है – ऐसे पराश्रय दृष्टिवान तपोधन शुभविकल्पों में धर्म मानकर राग में अटके हुए हैं, इसलिए वे अन्यवश हैं। वे भेद एवं विकार के स्वामी होते हैं, अभेदस्वभाव के स्वामी नहीं होते। जिन्होंने दर्शनमोह व चारित्रमोहरूपी अन्धकार समूह का नाश किया है और जो अखण्डानन्द निजपरमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के स्वाद में तत्पर हैं। – ऐसे श्रमण ही वास्तव में श्रमण हैं, महाश्रमण हैं, परमश्रुतकेवली हैं। उन्होंने ही उपरोक्त प्रकार से अन्यवश का स्वरूप कहा है।

बाह्यव्रतादि के विकल्पों में उलझे व्यक्ति को तो धर्म है ही नहीं; परन्तु अपने अन्दर के द्रव्य–गुण–पर्याय के भेद के – विकल्प के वश रहनेवाले के भी धर्म नहीं है; क्योंकि **राग में एकाग्र रहनेवाला उपयोग अरागी चैतन्य में कैसे जुड़ सकता है ? अर्थात् परावलम्बन में – पर के साथ जुड़ान में तो राग की ही उत्पत्ति होती है, वहाँ वीतरागी शान्ति प्रगट नहीं होती।**[1]

यहाँ कहते हैं कि किसी के चिन्ता करने से स्व–पर का न तो कुछ भी बिगड़ता है और न ही कुछ सुधरता है; इसलिए यहाँ शुभ–अशुभ भावों को, द्रव्यादि के विकल्पों को एवं सर्वभेदों को गौण करके ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होना ही एकमात्र प्रयोजन बताया है। यही आवश्यक है, यही स्ववशपना है।[2]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८४–११८५ २. वही, पृष्ठ ११८५–११८६

इस कलश में यह कहा गया है कि अपने आत्मा के ज्ञान–ध्यान को छोड़कर जो कार्य प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध नहीं होते ह्न ऐसे व्यर्थ के कार्यों में उलझने से किस कार्य की सिद्धि होती है। विशेष आत्मज्ञानी मुनिराजों को तो इनमें से किसी स्थिति में उलझना ठीक नहीं है।।६७।।

(अनुष्टुभ्)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः।
यथेंधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्धनम्।।२४६।।

(दोहा)

जबतक ईंधन युक्त है अग्नि बढ़े भरपूर।
जबतक चिन्ता जीव को तबतक भव का पूर।।२४६।।

जिसप्रकार जबतक ईंधन हो, तबतक अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है; उसीप्रकार जबतक जीवों को चिन्ता है, तबतक संसार है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार अग्नि को जबतक ईंधन मिलता रहता है, तबतक वह बढ़ती ही जाती है, बुझती नहीं है; इसीप्रकार जबतक शुभाशुभभाव है, उसकी चिन्ता है, तबतक आकुलतामय संसाररूपी अग्नि बढ़ती ही जाती है, खत्म नहीं होती। संसार के कारणों से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता; इसलिए सर्वप्रथम यह नक्की करो कि पुण्य–पाप के भाव हितरूप नहीं हैं, अपितु निर्मल ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव में एकाग्रता ही हितरूप है, हितकारी है।[1]''

जिसप्रकार जबतक ईंधन है, तबतक अग्नि भड़कती ही है; उसीप्रकार जबतक सांसारिक कार्यों की चिन्ता में यह जीव उलझा रहेगा; तबतक संसार परिभ्रमण होगा ही। अतः **जिन्हें संसार परिभ्रमण से मुक्त होना हो, वे सन्तगण सांसारिक चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त रहें।।२४६।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८७

नियमसार गाथा १४६

अब इस गाथा में साक्षात् स्ववश मुनिराज कैसे होते हैं ह्न यह बताते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।।१४६।।

(हरिगीत)

परभाव को परित्याग ध्यावे नित्य निर्मल आतमा।
वह आत्मवश है इसलिए ही उसे आवश्यक कहे ।।१४६।।

परभावों का त्याग करके जो निर्ग्रन्थ मुनिराज अपने निर्मलस्वभाव वाले आत्मा को ध्याता है, वह वस्तुत: आत्मवश है। उसे आवश्यक कर्म होते हैं ह्न ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप कहा है।

निरुपराग निरंजन स्वभाववाले होने के कारण जो श्रमण औदयिकादि परभाव को त्याग कर, इन्द्रिय, काया और वाणी के अगोचर सदा निरावरण होने से निर्मलस्वभाववाले और पापरूपी वीर शत्रुओं की सेना के ध्वजा को लूटनेवाले निजकारण परमात्मा को ध्याता है, उस श्रमण को आत्मवश श्रमण कहा गया है।

उस अभेद-अनुपचार रत्नत्रयात्मक श्रमण को समस्त बाह्य क्रिया-काण्ड आडम्बर में विविध विकल्पों के महाकोलाहल से प्रतिपक्ष महा आनन्दानन्दप्रद निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान स्वरूप परमावश्यक कार्य होता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जगत के अज्ञानी बाह्य स्वतंत्रता से ही अपने को स्वतंत्र मान

लेते हैं; परन्तु वे सभी परतंत्र हैं। मुनिभगवंतों के भी जितने अंशों में राग है, उतने अंशों में परतंत्रता है। अभेद-अनुपचार निर्विकल्पदशारूप/निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मुनिराज के परम-आवश्यक होता है।[१]

यह स्वाधीनतारूप परम-आवश्यक कार्य समस्त बाह्य क्रियाकाण्ड आडम्बर के विविध विकल्पों के महाकोलाहल से विरुद्ध महा-आनन्दानंददाता निश्चयधर्मध्यान व निश्चयशुक्लध्यान रूप है।[२]''

गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि वे परमजिन योगीश्वर मुनिराज औदयिकादि परभावों को त्यागकर एकमात्र परमपारिणामिकभावरूप निज कारण परमात्मा को ध्याते हैं; वे ही वास्तव में आत्मवश श्रमण हैं, स्ववश हैं, निश्चय परम आवश्यक वाले महाश्रमण हैं।।१४६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज आठ छन्द लिखते हैं, जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

जयत्ययमुदारधी: – स्ववशयोगिवृन्दारक:
प्रनष्टभवकारण: – प्रहतपूर्वकर्मावलि:।
स्फुटोत्कटविवेकत: स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां
सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ।।२४७।।

(ताटंक)

शुद्धबोधमय मुक्ति सुन्दरी को प्रमोद से प्राप्त करें।
भवकारण का नाश और सब कर्मावलि का हनन करें।।
वर विवेक से सदा शिवमयी परवशता से मुक्त हुए।
वे उदारधी संत शिरोमणि स्ववश सदा जयवन्त रहें।।२४७।।

भव के कारण को नष्ट किया है जिसने और पूर्व कर्मावली का हनन करनेवाला सन्त स्पष्ट, उत्कृष्ट विवेक द्वारा प्रगट शुद्धबोधस्वरूप, सदा शिवमय, सम्पूर्ण मुक्ति को प्रमोद से प्राप्त करता है; ऐसा वह स्ववश मुनिश्रेष्ठ जयवंत है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८९ २. वही, पृष्ठ ११९०

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो पुण्य-पाप के भाव करता है, वह उदार नहीं है; परन्तु **जिसमें कभी समाप्त नहीं होनेवाली – ऐसी परमानन्दमय शान्ति का प्रवाह निरन्तर चालू रहता है – ऐसे अक्षय-निधान ध्रुव सामान्य शक्ति से परिपूर्ण स्वभाव का स्वीकार करनेवाला ही उदार है। – यही सच्ची उदारता है।**

जिसने भव के कारण को नष्ट करने के लिए स्वाश्रित निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्ष का कारण प्रगट किया है और पूर्व में हुए विकारों को नष्ट कर दिया है; तथा जिसने स्पष्ट, प्रत्यक्ष, उत्कट, विवेक द्वारा शक्तिरूप पूर्णस्वभाव को प्रगट किया है और जो व्यक्त, शुद्ध, ज्ञानानन्दस्वरूप सदा कल्याणमय है – ऐसी सम्पूर्ण मुक्ति/स्वाधीनता को जो प्रमोद से प्राप्त करते हैं, वे मुनि ही स्ववश हैं, कृतकृत्य हैं, जयवंत हैं।[१]''

जो बात गाथा और टीका में कही है; उसी बात को इस कलश में दुहराते हुए कहते हैं कि **पूर्व कर्मावली को नष्ट करनेवाले और संसार के कारण को भी जड़मूल से उखाड़नेवाले, उदारबुद्धि मुनिराज ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।** वे श्रेष्ठतम मुनिराज ही निश्चय परम आवश्यक कर्म के धारक हैं।।२४७।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

प्रध्वस्तपंचबाणस्य पंचाचारांचिताकृतेः।
अवंचकगुरोर्वाक्यं कारणं मुक्तिसंपदः।।२४८।।

(दोहा)

काम विनाशक अवंचक पंचाचारी योग्य।
मुक्तिमार्ग के हेतु हैं गुरु के वचन मनोज्ञ।।२४८।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८३
२. वही, पृष्ठ ११८६-११८४

पंच बाणों के धारक कामदेव के नाशक ज्ञान; दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पाँच आचारों से सुशोभित आकृतिवाले अवंचक गुरु के वाक्य ही मुक्ति संपदा के कारण हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिन्होंने कामदेव का नाश किया है और ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यात्मक पंचाचार से सुशोभित जिनकी आकृति है अर्थात् जो साक्षात् सुन्दर मोक्षमार्ग की मूर्ति हैं; तात्पर्य यह है कि बाह्य-अभ्यंतर शीतलता प्रदान करनेवाली, शान्त, वीतरागी, परम-महिमावंत जिनकी पवित्रदशा है। – ऐसे निष्कपट श्री गुरुओं के वाक्य मुक्तिसम्पदा के कारण हैं।[२]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि **सर्वज्ञ भगवान की वाणी के अनुसार कहे गये अवंचक गुरुओं के वचन ही मुक्तिमार्ग में सहयोगी होते हैं।।२४८।।**

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम्।
निर्वाणसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः।।२४९।।

(दोहा)

जिनप्रतिपादित मुक्तिमग इसप्रकार से जान।
मुक्ति संपदा जो लहे उसको सतत् प्रणाम।।२४९।।

मुक्ति का कारण जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग है; उसे इसप्रकार जानकर जो निर्वाण प्राप्त करता है; मैं उसे बारम्बार वंदन करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मूल में अर्थात् गाथा १४६ में यह तो कहा है कि परभाव को छोड़ता है, परन्तु एक समय की पर्याय के बारे में कुछ नहीं कहा; क्योंकि

वह तो दूसरे समय स्वयं ही छूट जायेगी। वास्तविक बात तो यह है कि **निर्मल ज्ञातास्वभाव में यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान होने पर विभाव की उत्पत्ति ही नहीं हुई; इसे ही व्यवहार से ''विभाव का त्याग किया'' - ऐसा कहा जाता है** और इस कथन से नास्तिपक्ष का ज्ञान कराया गया है।

अस्ति-अपेक्षा तो वास्तव में चिदानंद शुद्धस्वभाव में अरागी निश्चयरत्नत्रयरूप जो निर्मलदशा प्रगट हुई है, वही जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताया हुआ मोक्ष का मार्ग है। - ऐसे 'उस मार्ग की मैं बार-बार वन्दना करता हूँ।' - इसप्रकार मुनिराज को भी ग्रन्थ की रचना करते हुए ऐसा विकल्प तो आता है; परन्तु उनके चित्त में उस विकल्प का आदर नहीं होता, उनके चित्त में आदर तो एकमात्र वीतरागता का ही होता है।[१]''

इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मुक्तिमार्ग को जानकर, अपनाकर, अपने जीवन में उतार कर मुक्ति प्राप्त करनेवाले सन्तों की अतिभक्तिपूर्वक वन्दना की गई है।।२४९।।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

स्ववशयोगिनिकायविशेषक प्रहतचारुवधूकनकस्पृह।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम्।।२५०।।

(रोला)

कनक कामिनी की वांछा का नाश किया हो।
सर्वश्रेष्ठ है सभी योगियों में जो योगी।।
काम भील के काम तीर से घायल हम सब।
हे योगी तुम भववन में हो शरण हमारी।।२५०।।

कंचन-कामिनी की कामना को नाश करनेवाले योगी ही योगियों के समूह में सर्वश्रेष्ठ योगी हैं। हे सर्वश्रेष्ठ योगी कामदेवरूपी भील के तीर से घायल चित्तवाले हम लोगों के लिए आप भवरूप भयंकर वन में एकमात्र शरण हैं।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८४-११८५

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि जिन मुनिराज को अपने आत्मा में निर्मल गुणमणि की सुन्दरता की गाढ़ रुचि हुई है, उन्हें सुन्दर स्त्री की और सुवर्ण की इच्छा नहीं होती।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि चिदानन्द ज्ञातास्वभाव में लीन - ऐसे योगीसमूह में श्रेष्ठ हे स्ववश योगी! हे शुद्धात्मा!! तुम ही एकमात्र हमारे लिए शरण हो।

मानसिक विकार-कामेच्छारूप अव्यक्त सूक्ष्म विकल्प भी कभी हो तो वह शरणरूप नहीं है; परन्तु 'सिद्धसमान सदा पद मेरो' अर्थात् मेरा आत्मा ही मुझे श्रेष्ठ शरण है अर्थात् हमारे जैसे मुनि के वर्तमान चारित्रदशा में कमजोरी के कारण यदि कोई राग आ जाये तो वह शरणभूत नहीं है; परन्तु भवरूपी जंगल में हे मुनिश्वर तुम ही शरण हो।

यहाँ व्यवहार से मुनिराज को व निश्चय से आत्मा को शरण बताया गया है।[१]''

इस छन्द में भी कंचन-कामिनी की वांछा से रहित मुनिराजों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है और कहा गया है कि वे कामविजयी मुनिराज कामवासना से त्रस्त हम लोगों के लिए एकमात्र शरण हैं।।२५०।।

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं तनुविशोषणमेव न चापरम्।
तव पदांबुरुहद्वयचिंतया स्ववश जन्म सदा सफलं मम।।२५१।।

(रोला)

अनशनादि तप का फल केवल तन का शोषण।
अन्य न कोई कार्य सिद्ध होता है उससे।।
हे स्ववश योगि! तेरे चरणों के नित चिन्तन से।
शान्ति पा रहा सफल हो रहा मेरा जीवन।।२५१।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८५-११८६

अनशनादि तपश्चरणों का फल मात्र शरीर का शोषण है, दूसरा कुछ भी नहीं। हे स्ववश योगी ! तेरे युगल चरण कमल के चिन्तन से मेरा जन्म सदा सफल है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''धर्म के नाम पर व्रत-तप करे तो भी उसका फल तो मात्र शरीर का शोषण करना ही कहा है। निमित्त-व्यवहार में रुचिवान होने से जिसकी दृष्टि विपरीत है, वह जीव कदाचित् व्रत-तप करे तो भी राग और शरीर की क्रिया में धर्म मानकर वह मिथ्या-अभिप्राय को ही पुष्ट करता है; इसलिए अज्ञानी है और इसीलिए अज्ञानी के व्रतादि को बालव्रत एवं बालतप कहा गया है।

वास्तव में जब अपने परमानन्द स्वरूप में यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान द्वारा स्वसन्मुख एकाग्रता होने पर शुभाशुभ इच्छा नहीं होती और वीतरागी शान्त आनन्द की उग्रता होती है, तब तप होता है और उससे ही स्ववशतारूपी धर्म होता है।

मुनिराज कहते हैं कि व्रत-तपादि के विकल्प होने पर भी वे शरण-भूत नहीं हैं; परन्तु निज-अखण्डानन्द शुद्ध त्रिकाल कारणपरमात्मा के चरणकमल युगल के चिन्तन से - एकाग्रता से मेरा जन्म सदा सफल है। ज्ञानानन्द की दृष्टि और स्थिरता ही श्रेष्ठ है। क्रियाकाण्ड, व्रत, उपवास के राग में रुकना श्रेष्ठ नहीं है। सहजानन्द चिदात्मा ही एकमात्र शरण है।[१]''

इस छन्द में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें अनशनादि तपों का फल मात्र शरीर का शोषण बताया गया है। साथ में यह भी कहा गया है कि स्ववश योगी ही महान है; उनके चरणों की उपासना में ही मानव जीवन सफल है ।।२५१।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८६-११८७

छठवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः
स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समंतात् ।
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः
स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ।।२५२।।

(रोला)

समता रस से पूर्ण भरा होने से पावन।
निजरस के विस्तार पूर से सब अघ धोये।।
स्ववश हृदय में संस्थित जो पुराण पावन है।
शुद्धसिद्ध वह तेजराशि जयवंत जीव है।।२५२।।

जिसने निजरस के विस्ताररूपी बाढ (पूर) के द्वारा पापों को सर्व ओर से धो डाला है; जो सहज समतारस से भरा होने से परम पवित्र है; जो पुरातन है; जो स्ववश मन में संस्थित है अर्थात् हृदय के भावों को स्ववश करके विराजमान है; तथा जो सिद्धों के समान शुद्ध है ह्न ऐसा सहज तेजराशि में निमग्न जीव सदा जयवंत है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसने निजरस के विस्ताररूपी पूर द्वारा स्वसामर्थ्य के बल से पुण्य-पाप को सर्व ओर से धो डाला है। निर्मलस्वभाव में उग्र लीनतारूप स्नान द्वारा विभावभाव को धो डाला है। जिसकी दृष्टि में वीतरागता है तथा जो चारित्र में विशेष शुद्धता प्रगट करके मिथ्यात्व आदि पाप से मुक्त हुए हैं। आत्मा सहज समता रस से पूर्ण भरा हुआ होने से पवित्र है, जो सनातन है तथा पुण्य-पाप रूप व्यवहार राग पवित्र नहीं है, सनातन नहीं है, अनित्य है, मलिन है।[१]

जो स्ववश मुनि ज्ञानानन्द में सुस्थित हैं, निर्विकल्पभाव में

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५

विराजमान हैं और शुद्ध सिद्ध अर्थात् प्रसिद्ध, विशुद्ध, सुसिद्ध समान हैं और सहज चिदानन्द तेजपुंज में मग्न हैं, वे जयवंत हैं।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में उन जीवों या सन्तों की महिमा बताई गई है; जो समतारस से भरे हुए होने से पवित्र हैं, जिन्होंने निजरस की लीनता द्वारा मिथ्यात्वादि पापों को धो डाला है, जो पुरातन है, जो अपने में समाये हुए हैं और सिद्धों के समान शुद्धस्वभावी हैं।।२५२।।

सातवें व आठवें छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुभ्)

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिन:।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम्।।२५३।।
एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनि:।
स्ववश: सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधी:।।२५४।।

(दोहा)

वीतराग सर्वज्ञ अर आत्मवशी गुरुदेव।
इनमें कुछ अन्तर नहीं हम जड़ माने भेद।।२५३।।
स्ववश महामुनि अनन्यधी और न कोई अन्य।
सरव करम से बाह्य जो एकमात्र वे धन्य।।२५४।।

सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान और इन स्ववश योगियों में कुछ भी अन्तर नहीं है; तथापि जड़ जैसे हम अरे रे इनमें भेद देखते हैं ह्न इस बात का हमें खेद है।

इस जन्म (लोक) में एकमात्र स्ववश महामुनि ही धन्य है; जो निजात्मा में ही अनन्यबुद्धि रखते हैं; अन्य किसी में अनन्यबुद्धि नहीं रखते। इसीलिए वे सभी कर्मों से बाहर रहते हैं।

इन छन्दों के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसी नियमसार में पहले ऐसा कह आये हैं कि ''जो स्ववश हैं,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५-९६

वह जीवनमुक्त हैं, जिनेश्वर देव से किंचित् न्यून हैं।'' पर यहाँ तो निर्विकल्प अभेद में इस भेद को भी निकाल दिया है। स्वरूप में लीन निर्विकल्प-आनन्द में स्थित मुनि में और वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा में क्या अन्तर है? कुछ भी अन्तर नहीं है; फिर भी अरेरे! खेद है कि हम जड़ के समान होकर, विकल्पों में रुक कर उनमें और सर्वज्ञदेव में अन्तर देखते हैं।[१]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता - यह नियम है और इस नियम की पूर्णता मुनिराजों के होती है। ऐसे स्ववश मुनि में और सर्वज्ञ परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।

पहले तो सर्वज्ञ से किंचित् न्यून कहा था, पर यहाँ तो यह कहते हैं कि सातवें अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि में केवली से न्यूनपने का हमें जो विकल्प आता है, वह विकल्प हमारी जड़ता का सूचक है।[२]

अहो! इस जन्म में जो नित्य सिद्ध समान कारणपरमात्मारूप निज चिदानन्द की प्रतीति और रमणता में वर्तता है, वह स्वाधीन है और जो विकल्प में वर्तता है, वह पराधीन है। निरन्तर स्ववश ज्ञानानन्द में लीन ऐसे महामुनि ही एक धन्य हैं। वे स्वरूपगुप्त अन्तर्मुख कारणपरमात्मा में अभेद होकर निर्विकल्प वीतराग परिणति में वर्तते हैं। निजात्मा के अतिरिक्त अन्य के प्रति लीन नहीं होते; इसलिए सर्वकर्मों से बाहर रहते हैं। सदा राग के कार्यों से बाहर और वीतरागी समतास्वरूप के अन्दर रहते हैं।[३]''

इसप्रकार इन छन्दों में यही कहा गया है कि यद्यपि निश्चय परम आवश्यकों को धारण करनेवाले मुनिराजों और वीतरागी सर्वज्ञ भगवान में कुछ भी अन्तर नहीं है; तथापि हम उनमें अन्तर देखते हैं। हमारा यह प्रयास जड़बुद्धियों जैसा है; क्योंकि अपने में अपनापन रखने वाले, निश्चय परम आवश्यक धारण करनेवाले महामुनि ही धन्य हैं, महान हैं।।२५३-२५४।।

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५-९६ २. वही, पृष्ठ ९६-९७ ३. वही, पृष्ठ ९७

नियमसार गाथा १४७

विगत गाथा में स्ववश सन्तों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में स्ववश सन्त होने के उपाय पर विचार करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आवासं जह इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।।१४७।।

(हरिगीत)

आवश्यकों की चाह हो थिर रहो आत्मस्वभाव में।
इस जीव के हो पूर्ण सामायिक इसी परिणाम से।।१४७।।

हे सन्त ! यदि तुम अवश्य करने योग्य आवश्यक प्राप्त करना चाहते हो तो आत्मस्वभाव में स्थिरतारूप भाव करो; क्योंकि जो आत्मस्वभाव में स्थिर भाव करता है, उससे उसे सामायिक गुण पूर्ण होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह शुद्धनिश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय के स्वरूप का कथन है।

बाह्य षट् आवश्यक के प्रपंच (विस्तार) रूपी नदी की कल-कल ध्वनि के कोलाहल के श्रवण से पराङ्मुख अर्थात् व्यवहार-आवश्यकों से विरक्त हे शिष्य ! यदि तू संसाररूपी लता (बेल) की जड़ को छेदने के लिए कुठार के समान शुद्ध निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप स्वात्माश्रित निश्चय आवश्यक चाहता है तो तू सकल विकल्पजाल से मुक्त निरंजन निज परमात्मा के सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजसुख आदि भावों में स्थिरभाव कर; क्योंकि इससे ही निश्चय सामायिक गुण उत्पन्न होता है। उसके होने पर मुमुक्षु जीव को बाह्य आवश्यक क्रियाओं से क्या लाभ है ? उनसे तो अनुपादेय (हेय) फल ही उत्पन्न होता है ह्न ऐसा अर्थ है; क्योंकि इस जीव को अपुनर्भवरूपी,

मुक्तिरूपी स्त्री के संभोग और हास्य प्राप्त करने में समर्थ निश्चय परमावश्यक से ही सामायिक चारित्र सम्पूर्ण होता है, पूर्णता से प्राप्त होता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और इसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जगत में लोग देह की क्रिया एवं शुभविकल्पों से सामायिक मानते हैं, परन्तु वह वास्तविक सामायिक नहीं है। मिथ्यात्व रागादि रहित अन्तरस्वभाव में स्थिर होना, परमशांत अतीन्द्रिय आत्मसुख में लीन रहना ही सच्ची सामायिक है। सामायिक की पूर्णता में छह आवश्यक की पूर्णता हो जाती है।

यहाँ कहते हैं कि यदि तू षट्-आवश्यक की प्राप्ति करना चाहता है, तो **निर्मल आत्मस्वभाव में स्थिरतारूप निश्चयरत्नत्रय-वीतरागभाव प्रगट कर! इससे सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।** यही मुनिपना है, यही सामायिक है। बाह्यवेष, विकल्प अथवा मुनिपना सामायिक नहीं है।[१]

मुनिराज सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजवीर्य, सहजचारित्र, सहज सुख, सहज छह कारकसामर्थ्यस्वभाव अनादि अनन्त पूर्णस्वभाववान कारणपरमात्मा में और उसके शुद्धस्वभाव में सतत् निश्चय स्थिरभाव/ एकाग्रता करते हैं; जिससे उन्हें निश्चय सामायिक उत्पन्न होता है, तब फिर मुमुक्षु जीव को बाह्य शुभ विकल्परूप व्यवहार क्रियाओं से क्या मिला ? अर्थात् अनुपादेय-हेय/निंद्यफल ही उत्पन्न हुआ ह्न ऐसा अर्थ है ?[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में ऐसे पात्र मुनिराजों को शिष्य के रूप में लिया गया है कि जो यथायोग्य व्यवहार आवश्यक होने पर भी उनसे पराङ्मुख हैं और निश्चय परम आवश्यक के अभिलाषी हैं। उनसे कहा जा रहा है कि आप विकल्पजाल से मुक्त होकर **एकमात्र निज आत्मा का ही चिन्तन-मनन, ज्ञान-ध्यान करो; क्योंकि एकमात्र इससे ही परमावश्यकरूप सामायिक गुण पूर्ण होता है।।१४७।।**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७ २. वही, पृष्ठ ८७

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवै ह्न** तथा श्री योगीन्द्रद्रेव ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंग:।
तदनवरतमंतर्मग्नसंविग्नचित्तो
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम्।।६८।।[१]

(सोरठा)

प्रगटें दोष अनंत, यदि मन भटके आत्म से।
यदि चाहो भव अंत, मगन रहो निज में सदा।।६८।।

हे योगी ! यदि तेरा मन किसी कारण से निजस्वरूप से विचलित हो, भटके तो तुझे सर्वदोष का प्रसंग आता है। तात्पर्य यह है कि **आत्म स्वरूप से भटकने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।** इसलिए तू सदा अन्तर्मग्न और विरक्त चित्तवाला रह; जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा, तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहते हैं कि आत्मस्वरूप से विचलित होने से, अपने में अपनापन न होने से अनन्त संसार के कारण मिथ्यात्वादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं; अत: **सभी आत्मार्थियों को अपने में अपनापन तो होना ही चाहिए, साथ में विरक्त चित्त भी रहना चाहिए।।६८।।**

इसके बाद एक छन्द टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदु:खापहं
मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।
बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति य: सर्वदा
सोयं त्यक्तबहि:क्रियो मुनिपति: पापाटवीपावक:।।२५५।।

१. अमृताशीति, श्लोक ६४

(रोला)

अतिशय कारण मुक्ति सुन्दरी के सम सुख का।
निज आतम में नियत चरण भवदुख का नाशक।।
जो मुनिवर यह जान अनघ निज समयसार को।
जाने वे मुनिनाथ पाप अटवी को पावक।।२५५।।

यदि इस जीव को संसार के दुखों को नाश करनेवाला और अपने आत्मा में नियत चारित्र हो तो; वह चारित्र मुक्तिलक्ष्मीरूपी सुन्दरी के समागम से उत्पन्न होनेवाले सुख का उच्चस्तरीय कारण होता है।

ऐसा जानकर जो मुनिराज अनघ (निर्दोष) समयसार (शुद्धात्मा) को जानते हैं; उसमें ही जमते-रमते हैं; बाह्य क्रियाकाण्ड से मुक्त वे मुनिराज पापरूपी भयंकर जंगल को जलाने के लिए दावाग्नि के समान हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यदि इस जीव को संसारदुःखनाशक निजात्माश्रित, एकाग्रतारूप वीतरागतामय निश्चयचारित्र हो, तो वह चारित्र मुक्तिलक्ष्मीरूपी परिणति से उत्पन्न सुख का अतिशयपने ह्न विशेषपने कारण होता है; इसप्रकार जानकर जो मुनिश्रेष्ठ निर्दोष समय के सार को अर्थात् साक्षात् शुद्धचिद्रूप पूर्णानन्दस्वरूप को सम्पूर्णपने जानते हैं और जिन्होंने बाह्यक्रिया शुभाशुभकर्मचेतना छोड़ दी है ह्न ऐसे मुनिराज ज्ञानानन्द की उग्र एकाग्रतारूप अग्नि द्वारा शुभाशुभभावरूपी अटवी को/जंगल को जलानेवाले हैं और अन्तरंग निर्मल शान्त ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्रता/स्थिरता को भजते हैं/प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि वहाँ शुभाशुभ संसाररूपी पाप उत्पन्न ही नहीं होते।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि **आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला चारित्र ही मुक्ति का कारण है।** बाह्य क्रियाकाण्ड से विरक्त और इसमें अनुरक्त मुनिराज ही मिथ्यात्वादि को नाश करने वाले हैं।।२५५।।

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८८

नियमसार गाथा १४८

विगत गाथा में शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में निश्चय आवश्यक करने की प्रेरणा दे रहे हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा।।१४८।।

(हरिगीत)

जो श्रमण आवश्यक रहित चारित्र से अति भ्रष्ट वे।
पूर्वोक्त क्रम से इसलिए तुम नित्य आवश्यक करो।।१४८।।

आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र से भ्रष्ट होते हैं; इसलिए पहले बताई गई विधि से आवश्यक अवश्य करना चाहिए।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ शुद्धोपयोग के सन्मुख जीव को शिक्षा दी गई है।

इस लोक में जब व्यवहारनय से भी समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि षट् आवश्यकों से रहित श्रमण चारित्र से भ्रष्ट है ह्न ऐसा कहा जाता है तो फिर शुद्ध निश्चयनय से परम-अध्यात्म भाषा में निर्विकल्प समाधिस्वरूप परम आवश्यक क्रिया से रहित निश्चयचारित्र से भ्रष्ट श्रमण तो चारित्र भ्रष्ट हैं ही ह्न ऐसा अर्थ है।

इसलिए हे मुनिवरो ! पहले कहे गये स्ववश परमजिन योगीश्वर के स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान व शुक्लध्यानरूप निश्चय परम आवश्यक को सदा अवश्य करो।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**जिस क्रिया से मुक्ति प्राप्त हो, वह क्रिया आवश्यक क्रिया कहलाती है।** देह की क्रिया, पुण्यरूप शुभराग की क्रिया, गुण-गुणी

का भेद, द्रव्य-गुण-पर्याय का चिन्तन यह आवश्यक क्रिया नहीं है।

परवशता/पराधीनता रहित निर्विकल्प निश्चय ज्ञानानन्द स्वरूप में स्थिरता होना ही मोक्ष की आवश्यक क्रिया है।

निर्मलस्वभाव की श्रद्धा और अरागी-तत्त्व में लीनतारूप आवश्यक रहित श्रमण आत्मा के चारित्र से अतिभ्रष्ट हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागी स्थिरतारूप आवश्यक करना चाहिए।[१]

इस कथन से यह भी समझ लेना चाहिए कि **ज्ञानी गृहस्थ के भी आंशिकरूप से यह मोक्षमार्ग होता है,** उनके भी निरन्तर निर्विकल्प शुद्धोपयोग में रहने की रुचि है। तथा सबसे पहले यही मुख्य है; इसके बीच आनेवाला राग तो अत्यन्त गौण है।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि जब लोक में व्यवहार आवश्यकों से भ्रष्ट सन्तों को भ्रष्ट कहा जाता है तो फिर निश्चय आवश्यकों से भ्रष्ट तो भ्रष्ट हैं ही। कदाचित् कोई व्यवहार आवश्यक बाह्य रूप में सही भी पालता हो; किन्तु निश्चय परम आवश्यक से रहित है तो वह भी भ्रष्ट ही है।।१४८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं दो छन्द लिखते हैं; जिनमें प्रथम छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं
कुर्यादुच्चैरघकुलहरं निर्वृतेर्मूलभूतम्।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्य: पुराण:
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति।।२५६।।

(दोहा)

आवश्यक प्रतिदिन करो अघ नाशक शिव मूल।
वचन अगोचर सुख मिले जीवन में भरपूर।।२५६।।

प्रत्येक आत्मा को अघ समूह के नाशक और मुक्ति के मूल एक

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९ २. वही, पृष्ठ ९०

सहज परम-आवश्यक को अवश्य करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से निजरस के विस्तार से पूर्ण भरा होने से पवित्र एवं सनातन आत्मा, वचन-अगोचर सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**पर से निरपेक्ष शुद्ध-आत्मा में एकाग्र होना आवश्यक कर्म है।** चैतन्य को भूलकर पुण्य-पाप के वश होना, वह पराधीनता है। चैतन्य के अलावा किसी भी पर के वश/आधीन नहीं होना ह्न इसका नाम अवशपना है। ह्न इसप्रकार नास्ति से समझाया है। वास्तव में तो **चिदानन्द स्वभाव में स्थिर रहना ही स्ववशपना/अवशपना है और यह जरूरी/मुख्य कर्त्तव्य है।**[१]

पर्याय-अपेक्षा शुद्धरत्नत्रय की आवश्यक क्रिया ही मोक्ष का मूल है और द्रव्य-अपेक्षा शुद्ध कारणपरमात्मा ही मुक्ति का मूल है। ह्न ऐसे सहज परम आवश्यक को/एक को अतिशयपने सदा करना चाहिये।[२]''

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि यदि वचनातीत शाश्वत मुक्तिसुख की प्राप्ति करनी है तो इस निश्चय आवश्यक को अवश्य धारण करना चाहिए।।२५६।।

(अनुष्टुभ्)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम्।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मण:।।२५७।।

(दोहा)

निज आतम का चिन्तवन स्ववश साधु के होय।
इस आवश्यक करम से उनको शिवसुख होय।।२५७।।

स्ववश मुनिराजों के उत्तम स्वात्मचिन्तन होता है और इस आत्म चिन्तनरूप आवश्यक कर्म से उन्हें मुक्तिसुख की प्राप्ति होती है।

इस छन्द में स्वात्मचिन्तनरूप निश्चय आवश्यक को जीवन में निरंतर बनाये रखने की परम पावन प्रेरणा दी गई है।।२५७।। •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९० २. वही, पृष्ठ ९०

नियमसार गाथा १४९

विगत गाथा में तो यह कहा था कि आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र भ्रष्ट है; पर इस गाथा में तो यह कहा जा रहा है कि आवश्यक से रहित श्रमण बहिरात्मा है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा।।१४९।।

(हरिगीत)

श्रमण आवश्यक सहित हैं शुद्ध अन्तर-आत्मा।
श्रमण आवश्यक रहित बहिरातमा हैं जान लो।।१४९।।

आवश्यक सहित श्रमण अन्तरात्मा है और आवश्यक रहित श्रमण बहिरात्मा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**यहाँ ऐसा कहा है कि आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है।**

अभेद-अनुपचार रत्नत्रयस्वरूप स्वात्मानुष्ठान में नियत परमावश्यक कर्म से निरंतर संयुक्त स्ववश नामक परम श्रमण सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है। यह महात्मा सोलह कषायों के अभाव हो जाने से क्षीणमोह पदवी को प्राप्त करके स्थित है। असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है और इन दोनों के मध्य में स्थित सभी मध्यम अन्तरात्मा हैं।

निश्चय और व्यवहार ह्न इन दो नयों से प्रतिपादित परमावश्यक क्रिया से रहित बहिरात्मा हैं।

तात्पर्य यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा, बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा और इन के बीच रहनेवाले पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के सभी जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा प्रथम, द्वितीय व तृतीय गुणस्थानवाले बहिरात्मा हैं।''

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

"यहाँ तो कहते हैं कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहार श्रद्धा आदि से अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय से भी संसार का अभाव नहीं होता; परन्तु अपने शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता द्वारा ही संसार का अभाव होता है। इसलिए वही एक आवश्यक कर्म है। जिसे ऐसा आवश्यक कर्म होता है, वही अन्तरात्मा है। इसके अलावा भले जंगल में जाकर बैठ जाये और अपने को बड़ा ध्यानी-तपस्वी माने, तो भी वह अन्तरात्मा नहीं है अर्थात् जिसे शुद्धात्मा की भी श्रद्धा नहीं है, वह तो बहिरात्मा है।[1]

अन्तर में जो पूर्ण ताकत भरी है, वह अन्तर में एकाग्रता के द्वारा ही प्रगट होती है। यदि कोई इसके विपरीत बाहर में आश्रय करने से कल्याण हो जायेगा ह्न ऐसा कहता हो, मानता हो तो वह तो कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र के समान ही है। जो उसकी प्रतीति करता है, उसे आवश्यक कर्म नहीं होता।[2]

जिन्हें सम्यग्दर्शन सहित वीतरागचारित्र में परिपूर्ण लीनता है, उन्हें सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा कहते हैं। ऐसे अन्तरात्मा महामुनिराज १६ कषायों के अभाव द्वारा क्षीणमोह पदवी को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं।

जघन्य अन्तरात्मा असंयत सम्यग्दृष्टि हैं। 'अशरीरी सिद्ध भगवान के समान मैं सर्वप्रकार से पूर्णशुद्ध आत्मा/नित्यस्वरूपप्रत्यक्ष कारणपरमात्मा हूँ।' असंयत सम्यग्दृष्टि को ऐसा पूर्णस्वरूप आत्मा का भान है, उसके क्षणिक शुभाशुभभावों के स्वामित्वरहित/मिथ्यात्वरहित यथार्थभान वर्तता है; अखण्ड ज्ञातापने का ज्ञान, प्रतीति और आंशिक लीनता होने पर भी अभी असंयत अवस्था है। अतः वह अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ कहलाता है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२
२. वही, पृष्ठ ९२

अविरतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा अन्दर में विशेष लीनता बढ़ने पर पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के सभी जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं।

जो जीव सर्वज्ञकथित निश्चय-व्यवहार दोनों नयों से प्ररूपित परम-आवश्यक क्रिया से रहित है, वह बहिरात्मा है - मिथ्यादृष्टि है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, नवतत्त्व हेय-उपादेय आदि प्रयोजनभूत बातों का जैसा निरूपण सर्वज्ञ के मार्ग में किया गया है, उनकी वैसी प्रतीति हुए बिना व्यवहार आवश्यक/समाधि/ध्यान कुछ भी नहीं होता।

सच्चे देवादि की प्रतीति, सत्यार्थप्रकाशक आगम का यथार्थ ज्ञान और व्यवहार संयम - यह व्यवहार आवश्यक है और बुद्धिपूर्वक होनेवाले विकल्प से छूटकर अन्दर अकेले चिदानंदस्वभाव में निर्विकल्प परिणति निश्चय आवश्यक है।[1]"

उक्त सम्पूर्ण कथन से तो यही प्रतिफलित होता है कि **यह निश्चय परम आवश्यक अर्थात् स्ववशपना मात्र मुनिराजों के ही नहीं होता; अपितु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर १२वें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोही भावलिंगी सन्तों तक सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार होता है; क्योंकि ये सभी अन्तरात्मा हैं।।१४९।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न** मार्गप्रकाश नामक ग्रन्थ में भी कहा है' ह्न ऐसा कहकर दो अनुष्टुप् छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ।।६९।।[2]
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक्।
प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमोमध्यस्तयोः ।।७०।।[3]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९३
२. मार्गप्रकाश ग्रंथ में उद्धृत श्लोक
३. वही

(रोला)

परमातम से भिन्न सभी जिय बहिरातम अर।
अन्तर आतमरूप कहे हैं दो प्रकार के।।
देह और आतम में धारे अहंबुद्धि जो।
वे बहिरातम जीव कहे हैं जिन आगम में।।६९।।

अन्तरात्मा उत्तम मध्यम जघन कहे हैं।
क्षीणमोह जिय उत्तम अन्तर आतम ही है।।
अविरत सम्यग्दृष्टि जीव सब जघन कहे हैं।
इन दोनों के बीच सभी मध्यम ही जानो।।७०।।

अन्य समय अर्थात् परमात्मा को छोड़कर बहिरात्मा और अन्तरात्मा ह्न इसप्रकार जीव दो प्रकार के हैं। उनमें शरीर और आत्मा में आत्मबुद्धि धारण करनेवाला, अपनापन स्थापित करनेवाला बहिरात्मा है।

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अन्तरात्मा तीन प्रकार के हैं। उनमें अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं और क्षीणमोही उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं और इनके मध्य में स्थित मध्यम अन्तरात्मा हैं।

उक्त छन्दों का भाव एकदम स्पष्ट और सहज सरल है; अत: उक्त संदर्भ में कुछ कहना अभीष्ट नहीं है।।६९-७०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

योगी नित्यं सहजपरमावश्यकर्मप्रयुक्त:
संसारोत्थप्रबलसुखदु:खाटवीदूरवर्ती ।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठ:
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठ: ।।२५८।।

(रोला)

योगी सदा परम आवश्यक कर्म युक्त हो।
भव सुख दुख अटवी से सदा दूर रहता है।।
इसीलिए वह आत्मनिष्ठ अन्तर आतम है।
स्वात्मतत्त्व से भ्रष्ट आतमा बहिरातम है।।२५८।।

योगी सदा सहज परमावश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ संसारजनित सुख-दुखरूपी अटवी (भयंकर जंगल) से दूरवर्ती होता है। इसलिए वह योगी अत्यन्त आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है। जो स्वात्मा से भ्रष्ट है, वह बाह्य पदार्थों में अपनापन करनेवाला बहिरात्मा है।

उक्त छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सर्वज्ञ वीतराग भगवान के मार्ग में निश्चय-व्यवहार में प्रवीण निश्चय स्वभावाश्रित अकेले अन्तरंग ज्ञायकस्वभाव में जो वीतरागी दृष्टि एवं वीतरागी स्थिरता करता है, वह योगी है। यह योगी सदा सहज परमावश्यकरूप स्वाधीन समतारूपी कर्म से जुड़ा हुआ है, अन्य किसी भी प्रकार के राग में नहीं जुड़ा है। वह योगी निश्चय रत्नत्रय में वर्तता हुआ संसारजनित प्रबल सुख-दुःखरूपी अटवी से बहुत दूर रहता है। इसलिए वह योगी अत्यन्त आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है।[१]

पराश्रय से धर्म होता है, गुरु की कृपा से कल्याण होता है, द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव के अच्छे समागम से कल्याण होता है - जो ऐसा मानता है, वह बाह्यतत्त्व में लीन मिथ्यादृष्टि है, आत्मा से भ्रष्ट है और बाह्य में देह-राग तथा पुण्यास्रवरूप बाह्यतत्त्व में लीन होने से मूढ़ है।

जो अपनी अन्तरंगशक्ति से अपने परिपूर्ण तत्त्व को न मानकर किसी बाह्य अवलम्बन से अथवा शुभभाव व शुभक्रिया से लाभ मानता है, वह अन्तरंगतत्त्व को नहीं जानता।[२]''

इसप्रकार इस छन्द में कहा गया है कि आत्मनिष्ठ योगी ही सच्चे योगी हैं, स्ववश सन्त हैं, निश्चय आवश्यक के धारी हैं। जो जीव स्वात्मा से भ्रष्ट हैं, वे बहिरात्मा हैं। तात्पर्य यह है कि **अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करके, उसे ही निजरूप जानकर, जो योगी स्वयं में ही समा जाता है, वही सच्चा योगी है। जगतप्रपंचों में उलझे लोग स्ववश योगी नहीं हो सकते।।२५८।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९४
२. वही, पृष्ठ ९४

नियमसार गाथा १५०

विगत गाथा में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का स्वरूप कहा है। अब इस गाथा में उसके ही स्वरूप को विशेष स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ।।१५०।।

(हरिगीत)

जो रहे अन्तरबाह्य जल्पों में वही बहिरातमा।
पर न रहे जो जल्प में है वही अन्तर आतमा ।।१५०।।

जो जिनलिंगधारी संत अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तता है; वह बहिरात्मा है और जो जल्पों में नहीं वर्तता है; वह अन्तरात्मा कहलाता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह बाह्य और अन्तरजल्प का निराकरण है।

जो जिनलिंगधारी तपोधनाभास पुण्य कर्म की वांछा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवन आदि बहिर्जल्प करता है और अशन (भोजन) शयन (सोना) गमन (चलना) और स्थिति (स्थिर रहना-ठहरना) आदि में सत्कार आदि की प्राप्ति का लोभी वर्तता हुआ अन्तर्जल्प में मन को लगाता है; वह जीव बहिरात्मा है।

निज आत्मा के ध्यान में परायण रहता हुआ सम्पूर्णत: अन्तर्मुख रहकर जो तपोधन प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त विकल्प जालों में कभी भी नहीं वर्तता; वह परमतपोधन साक्षात् अन्तरात्मा है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''बहिरात्मा को तो निरन्तर बाह्य बातों की निंदा-स्तुति, अनुकूलता प्रतिकूलता की ही चिन्ता रहती है। वह उससे भिन्न अन्दर में विराजमान

निज चिदानंदस्वरूप में रुचि करने का प्रयास ही नहीं करता, इसके लिए उसे फुर्सत ही नहीं मिलती। इसलिए पुण्य की अभिलाषा से ही स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बहिर्जल्प करता है। विकल्प तथा वाणी का कर्त्ता होकर पुण्य की रुचि और भावना में वर्तता है।

इसीप्रकार वह अशन, गमन, स्थिति आदि में सत्कार/सम्मान आदि का लोभी होता हुआ उसके राग में ही अटका रहता है। **अपने उपयोग को कभी भी असंग निर्विकल्प ज्ञानमात्र में नहीं जोड़ता, अत: बहिरात्मा है।**[1]

जो सम्पूर्णपने निजात्मा में अन्तर्मुख होकर शुभाशुभ भावों के विकल्पजाल में थोड़ा भी नहीं वर्तता, वह मुनि साक्षात् अन्तरात्मा है।[2]''

गाथा में तो सीधी, सरल व सहज बात कही है कि **जो अन्तर्बाह्य जल्पों में वर्तता है, वह बहिरात्मा है और जो इनसे अलिप्त है, वह अन्तरात्मा है; पर टीका में अन्तर्बाह्य विकल्पों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पुण्यकर्म की वांछा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवनादि करने को बहिर्जल्प तथा भोजन, सोना, चलना और ठहरने आदि की प्राप्ति का लोभी होकर प्रवर्तने को अन्तर्जल्प कहा है।**

लगता है कि वचनात्मक प्रवृत्ति को बहिर्जल्प और मानसिक चिन्तन को अंतर्जल्प कहना चाहते हैं ।।१५०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि:** ह्न तथा अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहि: समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ।।७१ ।।[3]

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९६
२. वही, पृष्ठ ९६
३. समयसार, श्लोक ९०

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है।।
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को।।७१।।

इसप्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है ह्न ऐसी महती नय-पक्षकक्षा का उल्लंघन करके ज्ञानी जीव अन्तर्बाह्य से समतारस स्वभाववाले अनुभूतिमात्र अपने भाव को प्राप्त करते हैं।

ज्यों-ज्यों नयों के विस्तार में जाते हैं, त्यों-त्यों मन के विकल्प भी विस्तार को प्राप्त होते हैं, चंचलचित्त लोकालोक तक उछलने लगता है। ज्ञानी जीव इसप्रकार के नयों के पक्ष को छोड़कर, समरसी भाव को प्राप्त होकर, आत्मा के एकत्व में अटल होकर, महामोह का नाश कर, शुद्ध अनुभव के अभ्यास से निजात्मबल प्रगट करके पूर्णानन्द में लीन हो जाते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि नयविकल्पों के विस्तार से उपयोग समेट कर जब आत्मा स्वभावसन्मुख होकर, निर्विकल्पज्ञान रूप परिणमित होता है; तभी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।।७१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि** लिखकर एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योति:प्रकटितनिजाभ्यन्तरांगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ।।२५९ ।।

(हरिगीत)

संसारभयकर बाह्य-अंतरजल्प तज समरसमयी।
चित्चमत्कारी एक आतम को सदा स्मरण कर।।
ज्ञानज्योति से अरे निज आतमा प्रगटित किया।
वह क्षीणमोही जीव देखे परमतत्त्व विशेषत: ।।२५९।।

भवभय करनेवाले बाह्य और अभ्यन्तर जल्प को छोड़कर समतारसमय एक चैतन्य चमत्कार का सदा स्मरण करके ज्ञानज्योति द्वारा जिसने निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है ह्न ऐसा वह अन्तरात्मा मोह क्षीण होने पर किसी अद्भुत परमतत्त्व को अन्तर में देखता है।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**याद किया हुआ शास्त्रपाठ, बाह्य वाणी जड़ है, उसमें पुण्य, पाप या धर्म कुछ भी नहीं होता।** अन्दर में भवभय उत्पन्न करनेवाले पुण्य-पाप के विकल्पों की रुचि छोड़कर, सर्वप्रकार के राग और वचन को छोड़कर ज्ञानी बाह्य अवलम्बन रहित, नित्य समतारसमय एक चैतन्य चमत्कार का निरन्तर स्मरण करता है। ज्ञानी बाह्य चमत्कार की तुच्छता जानता है, अतः देव-देवी मंत्रादि किसी भी चमत्कार को नहीं चाहता, राग तथा संयोग की किञ्चित् भी महिमा नहीं करता। ज्ञानी ने तो अन्तर्मुख ज्ञानज्योति द्वारा निज अन्तरंग अंग/स्वरूप प्रगट किया है। और जिसके पुण्य - शुभराग व्रतादि आस्रव की रुचि है, उसने बाह्य अंग (स्वरूप) प्रगट किया है, परन्तु वह स्व नहीं है, वह तो विरोधी है, चैतन्य की जाग्रति को लूटनेवाला है। उसका सच्चा अन्तरंग तो त्रिकाल निर्मल चैतन्यस्वरूप है और उसके आश्रय से निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शांति प्रगट होती है। उससे भिन्न पुण्य-पाप राग का भाव बहिरंग है।[१]''

उक्त छन्द में मात्र यही कहा है कि सच्चे सन्त तो अन्तर्बाह्य जल्पों को, विकल्पों को छोड़कर समतारसमय चैतन्यचमत्कार का स्मरण करते हैं। ज्ञानज्योति द्वारा मोह क्षीण होने पर अन्तरात्मा अपने आत्मा को देखते हैं, उसी में जमते-रमते हैं।।२५९।। ●

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९७

नियमसार गाथा १५१

विगत गाथाओं में आवश्यक रहित अन्तर्बाह्य विकल्पवाले श्रमणों को बहिरात्मा कहा था; अब यहाँ इस गाथा में धर्म और शुक्लध्यान रहित श्रमणों को भी बहिरात्मा कहा जा रहा है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ।।१५१।।

(हरिगीत)

हैं धरम एवं शुकल परिणत श्रमण अन्तर आतमा।
पर ध्यान विरहित श्रमण है बहिरातमा यह जान लो ।।१५१।।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत आत्मा अन्तरात्मा है और **ध्यानविहीन श्रमण बहिरात्मा है ह्न** ऐसा जानो।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान व निश्चय शुक्लध्यान ह्न यह दो ध्यान ही उपादेय हैं ह्न ऐसा कहा है।

इस लोक में वस्तुत: साक्षात् अन्तरात्मा तो क्षीणकषाय भगवान ही है। वस्तुत: उन क्षीणकषाय भगवान (बारहवें गुणस्थानवाले) के सोलह कषायों का अभाव होने से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी योद्धाओं के दल विलय को प्राप्त हो गये हैं; अत: वे भगवान क्षीणकषाय सहज चिद्विलास लक्षण अति अपूर्व आत्मा को शुद्ध निश्चय धर्मध्यान और शुद्ध निश्चय शुक्लध्यान द्वारा नित्य ध्याते हैं।

इन दो ध्यानों रहित द्रव्यलिंग धारी द्रव्य श्रमण बहिरात्मा हैं। हे शिष्य तू ऐसा जान।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक जो निर्मलता होती है, वह एक ही उपाय से होती है। सहज चिद्विलासलक्षणरूप क्रिया ही एकमात्र इसका उपाय है।** पुण्य की क्रिया या शरीर की क्रिया इसका उपाय नहीं है। पर में फेरफार करना तो आत्मा का स्वरूप है ही नहीं, परन्तु राग में फेरफार करना भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। अपने सहजस्वरूप में लीन होने पर राग का नाश हो जाता है।

इसप्रकार सम्यक्त्वभाव में ज्ञान का ज्ञानरूप परिणम जाना अर्थात् संवर-निर्जरारूप परिणमना ही धर्मध्यान है।[1]

आत्मा के भानपूर्वक ध्यान होता है, जिसको इसकी खबर नहीं है और पुण्य से धर्म मानता है, वह जीव नग्न दिगम्बर मुनि हो तो भी द्रव्यलिंगी है। इसका कारण यह है कि **'अन्तरस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग होता है' ह्न** इसकी खबर उसे नहीं है।[2]''

देखो, यहाँ आचार्यदेव और टीकाकार मुनिराज निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही उपादेय बताने के लिए इन ध्यानों से रहित मुनिराजों को न केवल द्रव्यलिंगी, अपितु बहिरात्मा कह रहे हैं।

आशय यह है कि जिनके निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान बिल्कुल हैं ही नहीं; वे श्रावक और मुनिराज बहिरात्मा हैं; वे नहीं कि जिनके आहार-विहारादि के काल में निश्चय धर्मध्यान व शुक्लध्यान नहीं हैं।।१५१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव जो छन्द लिखते हैं; वह इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

कश्चिन्मुनि: सततनिर्मलधर्मशुक्ल-
ध्यानामृते समरसे खलु वर्तते ऽसौ।
ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ।।२६०।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९९-१००
२. वही, पृष्ठ १०१

(वीरछन्द)

धरम-शुकलध्यान समरस में जो वर्ते वे सन्त महान।
उनके चरणकमल की शरणा गहें नित्य हम कर सन्मान।।
धरम-शुकल से रहित तुच्छ मुनि कर न सके आतमकल्याण।
संसारी बहिरातम हैं वे उन्हें नहीं निज आतमज्ञान।।२६०।।

जो कोई मुनि वस्तुत: निर्मल धर्म व शुक्लध्यानामृतरूप समरस में निरन्तर वर्तते हैं; वे अन्तरात्मा हैं और **जो तुच्छ मुनि इन दोनों ध्यानों से रहित हैं; वे बहिरात्मा हैं।** मैं उन समरसी अन्तरात्मा मुनिराजों की शरण लेता हूँ।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान में वर्तनेवाले उत्कृष्ट अंतरात्मा मुनिराजों की शरण में जाने की बात कर रहे हैं।।२६०।।

इसके बाद दूसरा छन्द कहते हैं ह्न

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम्।
सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः।।२६१।।

(वीरछन्द)

बहिरातम-अन्तरातम के शुद्धातम में उठें विकल्प।
यह कुबुद्धियों की परिणति है ये मिथ्या संकल्प-विकल्प।।
ये विकल्प भवरमणी को प्रिय इनका है संसार अनन्त।
ये सुबुद्धियों को न इष्ट हैं, उनका आया भव का अन्त।।२६१।।

शुद्ध आत्मतत्त्व में 'यह बहिरात्मा है, यह अन्तरात्मा है' ह्न ऐसा विकल्प कुबुद्धियों को होता है। संसाररूपी रमणी (रमण करानेवाली) को प्रिय यह विकल्प, सुबुद्धियों को नहीं होता।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्ध आत्मतत्त्व में शरीर-मन-वाणी आदि बाह्यपदार्थों का अत्यन्त अभाव है। फिर भी जो जीव इनसे धर्म मानता है, देव-शास्त्र-गुरु से धर्म मानता है, कुगुरु से कल्याण मानता है, वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है। और जो आत्मा को परिपूर्ण शुद्ध मानता है, उसी के आश्रय से कल्याण मानता है, वह अन्तरात्मा है, मोक्षमार्गी है।

बहिरात्मपना एक समय की उल्टी पर्याय है और अन्तरात्मपना एक समय की सीधी/अविपरीत पर्याय है। 'यह बहिरात्मपना है और यह अन्तरात्मपना है' द्रव्यस्वभाव में ऐसा भेद नहीं होता, वस्तु अभेद है; फिर भी जो उसमें भेद देखता है, वह कुबुद्धि है। तात्पर्य यह है कि अभेद में भेद देखने की कल्पना कुबुद्धियों को ही होती है।[१]

जहाँ तक अज्ञानदशा वर्तती है, वहाँ तक मिथ्यादृष्टिपना है और आत्मा का भान करनेवाला चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि है और इसके आगे-आगे शुद्धता बढ़ने पर क्रमशः श्रावकपना व मुनिपना होता है।[२]

सोने की और तांबे की खान पास-पास में हो और कोई सोने का अर्थी तांबे की खान खोदने लग जाय तो मूर्ख ही कहलायेगा। इसीप्रकार दया-दानादि के विकारीभाव करना अथवा अभेद में भेद करना तांबे की खान के समान संसार की खान है और शुद्धचैतन्य त्रिकाली स्वभाव सोने की खान के समान मोक्ष की खान है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग एवं मोक्ष प्रगट होता है।[३]

लौकिक बुद्धिजीवी वकील, डॉक्टर आदि को सुबुद्धि नहीं कहा, मात्र शास्त्र पढ़नेवाले को सुबुद्धि नहीं कहा; जो अन्तरात्मा और बहिरात्मा ऐसा भेद करता है, उसे भी सुबुद्धि नहीं कहा; जो एक में दोपने का भेद करता है, उसे भी सुबुद्धि नहीं कहा; परन्तु **जो वस्तुस्वभाव को सामान्य एकरूप अभेद-अखण्ड मानता है, द्रव्यस्वभाव में पर्याय का भेद भी नहीं देखता, उसे ही यहाँ सुबुद्धि कहा गया है।**[४]''

देखो, आचार्यदेव अनेक गाथाओं में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का भेद समझाते आ रहे हैं और यहाँ टीकाकार मुनिराज यह कह रहे हैं कि इसप्रकार के विकल्प कुबुद्धियों को होते हैं, सुबुद्धियों को नहीं। तात्पर्य यह है कि इसप्रकार के विकल्प भी हेय ही हैं, उपादेय नहीं; ज्ञानी जीव इन विकल्पों को भी बंध का कारण ही मानते हैं, मुक्ति का कारण नहीं।।२६१।।

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३
२. वही, पृष्ठ १०३
३. वही, पृष्ठ १०३
४. वही, पृष्ठ १०४

नियमसार गाथा १५२

विगत गाथाओं में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में वीतराग चारित्र में आरूढ संत की बात करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।१५२।।

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण आदिक क्रिया निश्चयचरित धारक श्रमण ही।
हैं वीतरागी चरण में आरूढ़ केवलि जिन कहें।।१५२।।

स्ववश सन्त प्रतिक्रमणादि क्रियारूप निश्चयचारित्र निरन्तर धारण करता है; इसलिए वह श्रमण वीतरागचारित्र में स्थित है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ परम वीतराग चारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।

ऐहिक व्यापार अर्थात् सांसारिक कार्य छोड़ दिये हैं जिसने ह्न ऐसा जो मोक्ष का अभिलाषी महामुमुक्षु, सभी इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ देने से निश्चय प्रतिक्रमण आदि सत् क्रियाओं को निरन्तर करता है। इसकारण वह परम तपोधन निजस्वरूप विश्रान्त लक्षण परम वीतराग चारित्र में स्थित है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मोक्ष का निश्चय कारण तो त्रिकाली स्वभाव है और व्यवहार कारण वीतरागी निर्मलपर्याय है। मोक्षमार्गरूप आवश्यक क्रिया का कारण त्रिकाली स्वभाव है।[१]

जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के निमित्त से समुद्र उछलता है, उसीप्रकार

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५

चैतन्यसुधा से भरे हुए आत्मा में वस्तुस्वभाव की यथार्थ प्रतीतिपूर्वक अवलम्बन लेने पर वीतरागी अमृत और शांति का समुद्र उछलता है। पुण्य-पाप रहित आत्मा का स्वभाव मध्य दरिया के समान है, उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में शांति तथा अनाकुलता उत्पन्न होती है।

इच्छा के अभावरूप अकषायभाव ही तपश्चर्या है। राग की उत्पत्ति न होकर अनाकुल शांति उत्पन्न होना ही तपश्चर्या है।[१]

चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव तो मुमुक्षु हैं और मुनिराज महामुमुक्षु हैं। वे संज्वलनकषायजन्य अस्थिरता का भी अभाव करके निरन्तर अपने स्वरूप में स्थिर रहने के लिए सदा तैयार रहते हैं।[२]

जिसप्रकार कमल की एक-एक कली सूर्योदय का निमित्त पाकर खिल उठती है; उसीप्रकार जो आत्मा पुण्य-पाप में अटका होने से संकोच को प्राप्त था, वही निजस्वरूप की प्रतीति, ज्ञान और स्थिरता से पर्याय में कमल के फूल की भाँति खिल उठा है अर्थात् उसे परमचारित्रदशा प्रगट हो गई है। ऐसे चारित्रवंत मुनिराज को निजस्वरूप की ही मौज होती है।

परमात्मदशा चारित्र बिना नहीं होती। चारित्र सम्यग्दर्शन बिना नहीं होता, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान बिना नहीं होता और सम्यग्दर्शन सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा बिना नहीं होता। इसलिए परमविश्रांतस्वरूप आत्मा की पहिचान सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धापूर्वक होती है।

अतः सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु के सत्समागम द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करना चाहिए और निर्णय के पश्चात् चारित्र अंगीकार कर सुखी होना चाहिए।[३]''

इस गाथा और उसकी टीका में उत्कृष्ट अन्तरात्मा १२वें गुणस्थान वर्ती पूर्ण वीतरागी महामुमुक्षु मुनिराज का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि उन्होंने समस्त सांसारिक कार्यों को तिलांजलि दे दी है, उनका इन्द्रियों का व्यापार पूर्णत: रुक गया है, निश्चय प्रतिक्रमणादि समस्त आवश्यक क्रियायें विद्यमान हैं। इसप्रकार वे परम तपोधन निज स्वरूप में विश्रांति लक्षणवाले वीतरागचारित्र में पूर्णत: स्थित हैं।।१५२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६ २. वही, पृष्ठ १०७ ३. वही, पृष्ठ १०९-११०

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
यः संसारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तेः।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः।
तं वंदेऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशांकम् ।।२६२।।

(रोला)

दर्शन अर चारित्र मोह का नाश किया है।
भवसुखकारक कर्म छोड़ संन्यास लिया है।।
मुक्तिमूल मल रहित शील-संयम के धारक।
समरस-अमृतसिन्धु चन्द्र को नमन करूँ मैं।।२६२।।

नष्ट हो गये हैं दर्शनमोह और चारित्रमोह जिसके ह्न ऐसा अतुल महिमावाला बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा; संसारजनित सुख के कारण भूत कर्म को छोड़कर, मुक्ति के मूल मलरहित चारित्र में स्थित है, चारित्र का पुंज है। समतारसरूपी अमृतसागर को उछालने में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान उस आत्मा को मैं वंदन करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ऐसे मुनिराज पूर्णमासी के चन्द्र समान हैं। जिसप्रकार पूर्णमासी का चन्द्रमा अपनी सोलह कलाओं से खिलता है और समुद्र के पानी को उछालने में कारण होता है; उसीप्रकार मुनिराज का अपना आत्मा जो समताभाव का समुद्र है, उनकी पर्याय में आनन्द और शांति को उछालने में वह कारण बनता है। वह अपनी ज्ञानकला से खिल उठता है। टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मैं ऐसे मुनिराज की वंदना करता हूँ।[१]''

इस छन्द में भी बारहवें गुणस्थानवाले पूर्ण वीतरागी मुनिराजों की भक्तिभाव पूर्वक वंदना की गई है।।२६२।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११०

नियमसार गाथा १५३

विगत गाथा में वीतरागी चारित्र में स्थित मुनिराजों की अनुशंसा करने के उपरान्त अब इस गाथा में वचनमय प्रतिक्रमणादि का निराकरण करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ।।१५३।।

(हरिगीत)

वचनमय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान अर आलोचना।
बाचिक नियम अर ये सभी स्वाध्याय के ही रूप हैं।।१५३।।

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना ह्न ये सब प्रशस्त अध्यात्मरूप शुभभावरूप स्वाध्याय जानो।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह समस्त वचनसंबंधी व्यापार का निराकरण है। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रिया का कारण, निर्यापक आचार्य के मुख से निकला हुआ, समस्त पापों के क्षय का कारण सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत, वचनवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यात्मक होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है।

प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना भी पुद्गलद्रव्यात्मक होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है। वे सब पौद्गलिक वचनमय होने से स्वाध्याय हैं ह्न ऐसा हे शिष्य ! तू जान।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''प्रतिक्रमण में बोले जानेवाले शब्द तो जड़ हैं, वे आत्मा की क्रिया नहीं हैं और उसके साथ होनेवाला शुभभाव पुण्यास्रव है, वह भी आत्मा की आवश्यक क्रिया नहीं है। प्रत्याख्यान में बोले जानेवाले

शब्द जड़ हैं और प्रत्याख्यान लेने का भाव शुभ है। नियम अर्थात् चारित्र सम्बन्धी शब्द जड़ हैं और मोक्षमार्ग अंगीकार करने सम्बन्धी नियम लेना शुभराग है। आलोचना में बोले जानेवाले शब्द जड़ हैं और आलोचना का भाव शुभ है। – व्यवहार है। **शुभाशुभ रहित आत्मा ज्ञानस्वभावी है – ऐसा भान हो तो शुभभाव को भी व्यवहार कहते हैं।** ये समस्त प्रशस्तभाव असत् क्रिया है/आस्रव है – ऐसा तू जान!

इन प्रतिक्रमण आदि समस्त वचन सम्बन्धी शुभभाव का अभाव करके स्वभाव में ठहरना ही कर्तव्य है।[1]

प्रथम व्यवहार बताया, सच्चे भावलिंगी संतों द्वारा बनाये हुए शास्त्रों की विधि कही। उसके लक्ष्य से शुभराग होता है तथा अशुभ का नाश होता है। जबतक स्वरूप में स्थिर न हो सके, तबतक मुनि को भी सुनने का शुभराग आता है, परन्तु वे शुभराग तथा वाणी को उपादेय नहीं मानते; परन्तु साधकदशा में शुभराग आये बिना नहीं रहता। पाक्षिकादि व्यवहार प्रतिक्रमण शुभराग है, आस्रव है, पुण्यबंध का कारण है और पुण्य का अभाव करके अपने आत्मा में स्थिर होना धर्म है। प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना की व्यवहारविधि भी जड़ है, उसे लेने का भाव शुभ है, पुण्य है, उसमें वाणी निमित्त होती है, परन्तु वह धर्म नहीं है; क्योंकि वे सभी पौद्गलिक वचनमय होने से स्वाध्याय हैं ह्न प्रशस्त शुभभाव हैं ह्न ऐसा हे शिष्य तू जान![2]''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सर्वज्ञदेव की वाणी के अनुसार गणधरदेव द्वारा ग्रथित और भावलिंगी संतों द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग श्रुत में कहे गये वचनरूप व्यवहार प्रतिक्रमणादि हेय हैं, बंध के कारण हैं; मुक्ति के कारण नहीं।।१५३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १११
२. वही, पृष्ठ ११२

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदात: समस्तां
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्य: ।
नित्यानंदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ।।२६३।।

(रोला)

मुक्ति सुन्दरी के दोनों अति पुष्ट स्तनों।
के आलिंगनजन्य सुखों का अभिलाषी हो।।
अरे त्यागकर जिनवाणी को अपने में ही।
थित रहकर वह भव्यजीव जग तृणसम निरखे।।२६३।।

मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट स्तन युगल के आलिंगन के सुख की इच्छा वाले भव्यजीव समस्त वचनरचना को सर्वदा छोड़कर, नित्यानन्द आदि अतुल महिमा के धारक निजस्वरूप में स्थित होकर सम्पूर्ण जगतजाल (लोकसमूह) को तृण समान तुच्छ देखते हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज महाब्रह्मचारी होते हैं। जंगल में अपने आत्मा का ध्यान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त में छठवें–सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। उन्हें जगत की महिमा नहीं होती। अन्तर–आनन्द में लीन रहते हैं। यह लीनता ही मुक्ति का कारण है। आत्मा की मस्ती में मस्त मुनिराज ने यहाँ जगत की परवाह किये बिना मुक्ति को स्त्री की उपमा दी है।

वे कहते हैं कि हे जीव ! तुझे इस सांसारिक स्त्री से प्रेम है; परन्तु वह तो संसार का कारण है। आत्मा की परिणति रूपी स्त्री जो आत्मद्रव्य से कभी जुदी नहीं होती, अब तू उसके प्रति प्रेम कर! सिद्ध भगवान के लिए सिद्धदशा का कभी विरह नहीं होता। इसलिए तू भी अब उस परिणति को प्रगट कर!

यहाँ सांसारिक स्त्री का मोह छोड़कर मुक्तिरूपी स्त्री को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। जो तेरी स्त्री तुझसे छूट जाय, वह तेरी स्त्री नहीं है।

शुभ-अशुभ भाव विकारी भाव हैं, वे भी एक धारावाही नहीं हैं। शुभ के बाद अशुभ होता है।[१]''

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुक्ति को स्त्री के रूप में प्रस्तुत करते हुए जिसप्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते हैं; उनसे कुछ रागी गृहस्थों को अनेक तरह के विकल्प खड़े होते हैं। उनके वे विकल्प उनकी ही कमजोरी को व्यक्त करते हैं; क्योंकि मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो पूर्ण ब्रह्मचारी भावलिंगी सन्त थे।

कहा जाता है कि महापुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन के प्रति भी लोगों में इसप्रकार के भाव उत्पन्न हुए थे; क्योंकि उन्होंने महापुराण में नारी के वर्णन में शृंगार रस का विशेष वर्णन किया था।

लोगों के विकल्पों को शान्त करने के लिए उन्होंने खड़े होकर उसी प्रकरण का गहराई से विवेचन किया; फिर भी उनके किसी भी अंग में कोई विकृति दिखाई नहीं दी; तो सभी के इसप्रकार के विकल्प सहज ही शान्त हो गये। अत: उक्त संदर्भ में किसी भी प्रकार के विकल्प खड़े करना समझदारी का काम नहीं है।।२६३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथा चोक्तं ह्व** तथा कहा भी है' ह्व ऐसा कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्व

परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाउ।।७२।।[२]

(हरिगीत)

परीवर्तन वाँचना अर पृच्छना अनुप्रेक्षा।
स्तुति मंगल पूर्वक यह पंचविध स्वाध्याय है।।७२।।

पढे हुए को दुहरा लेना, वाचना, पृच्छना (पूँछना), अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ह्व ऐसे ये पाँच प्रकार का स्तुति व मंगल सहित स्वाध्याय है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्व

''वीतरागी सर्वज्ञ भगवान के शासन में सर्वज्ञकथित श्रुत/शास्त्र

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११२
२. श्रीमूलाचार, पंचाचार अधिकार, गाथा २१९

को पुन:-पुन: याद करना, बारम्बार घोकना, पढ़े हुए विषय को फिर से याद करना ह्व ये सब शुभ स्वाध्याय है, पुण्य है; धर्म नहीं। शास्त्र का व्याख्यान करना वह भी शुभ है, पुण्य है; धर्म नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र में बारह भावनाओं को संवर कहा है; परन्तु वहाँ संवर कहने का अभिप्राय यह है कि शुद्ध आत्मा के भानपूर्वक जितनी एकाग्रता होती है, उतना संवर है। बाकी जितने अंश में राग वर्तता है, उतना पुण्य है। ६३ शलाका महापुरुषों का चरित्र सुनना अथवा पुराणों का पढ़ना, वह शुभराग है; धर्म नहीं।

इसप्रकार वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ह्व यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय पुण्यास्रव है, धर्म नहीं।

आत्मा के अवलम्बनपूर्वक जो श्रद्धा तथा वीतरागता प्रगट होती है, वह धर्म है। इसलिए हे भव्य! सर्वप्रथम आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान करना चाहिए।[१]''

इस गाथा में जो स्वाध्याय के पाँच भेद गिनाये गये हैं; वे तत्त्वार्थसूत्र में समागत भेदों से कुछ भिन्न दिखाई देते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में स्वाध्याय के पाँच भेद इसप्रकार दिये हैं ह्व वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।[२]

यहाँ प्रतिपादित पहला भेद परिवर्तन तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ भेद आम्नाय से मिलता-जुलता है। इसीप्रकार यहाँ कहा गया अन्तिम भेद धर्मकथा तत्त्वार्थसूत्र में समागत अन्तिम भेद धर्मोपदेश से मिलता-जुलता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इनमें कोई अन्तर नहीं है।।७२।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३ २. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २५

यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है; तथापि इस खुशी में चंचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढ़िया, खान-पान आदि को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह भगवान के संयोग का नहीं, वियोग का दिन है। **ह्व पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२**

नियमसार गाथा १५४

विगत छन्द में वचनमय प्रतिक्रमणादि का निषेध किया था और यहाँ कहते हैं कि निश्चय धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमण ही करने योग्य है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ।।१५४।।

(हरिगीत)

यदि शक्य हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना चाहिए।
यदि नहीं हो शक्ति तो श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।।१५४।।

यदि किया जा सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमण ही करो; यदि तू शक्ति विहीन हो तो तबतक श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसा कहा है कि शुद्धनिश्चय धर्मध्यानरूप प्रतिक्रमणादि करने योग्य हैं।

सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के ही शिखामणि, परद्रव्य से परांगमुख और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित देहमात्र परिग्रह के धारी, परमागमरूपी मकरंद झरते हुए मुख कमल से शोभायमान हे पद्मप्रभ मुनिशार्दूल ! संहनन और शक्ति का प्रादुर्भाव हो तो मुक्तिसुन्दरी के प्रथम दर्शन की भेंटस्वरूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रायश्चित्त, निश्चय प्रत्याख्यान आदि प्रमुख शुद्ध निश्चय क्रियाएँ ही कर्त्तव्य हैं।

यदि इस हीन दग्धकालरूप अकाल में तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा व टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परमपूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हे मुनियों! यदि कर सकते हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करो। यह प्रतिक्रमण, सामायिक, वन्दना, स्तुति आदि समस्त अंतरंगक्रिया आत्मा के शुद्धस्वरूप के अवलम्बन से होती है। यहाँ सम्पूर्ण कथन मुनिराजों की अपेक्षा से किया गया है।[१]

सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में रहना ही प्रतिक्रमण, सामायिक आदि की वास्तविक क्रिया है। और तुम्हें निर्विकल्प ध्यान के अभाव में छठे गुणस्थान में जो शुभराग होता है, वह सामायिक नहीं है, सच्ची क्रिया नहीं है – यह ध्यान में रखना। तात्पर्य यह है कि उस समय भी अप्रमत्तदशा में जाने का श्रद्धान रखना।

यहाँ 'श्रद्धान रखना' – इसका अभिप्राय मात्र सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धान की बात नहीं है; परन्तु छठवें गुणस्थान में ही संतुष्ट न होकर, सातवें गुणस्थान की निर्विकल्प दशा का श्रद्धान रखना है। इसप्रकार यहाँ श्रद्धा के साथ चारित्र की उग्रता की बात कही है।[२]

छठवें गुणस्थान में विराजमान मुनिराज को अर्थात् अपने-आपको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे मुनि! ज्ञायकस्वभाव में लीन रहना ही मोक्षमार्ग है। छठे गुणस्थान में तीन कषाय का अभाव तो है, परन्तु स्वरूप में स्थिर नहीं है; इसलिए कहते हैं कि पंचमहाव्रत के परिणाम आस्रव हैं, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं।[३]

टीकाकार मुनिराज अध्यात्मज्ञानी थे, उन्होंने इस नियमसार की अलौकिक टीका बनाई है। वे अपना पुरुषार्थ बढ़ाने हेतु स्वयं अपने को सम्बोधित करते हैं। सर्वप्रथम मुनिराज कैसे होते हैं – यह कहते हैं।

मुनिराज सहज वैराग्यवंत होते हैं, उत्कृष्ट वैराग्यवंत होते हैं, जंगल में रहते हैं, देह-मन-वाणी से परान्मुख होते हैं, उनकी पर्याय द्रव्य के सन्मुख होती है, वे स्वद्रव्य में निष्णात होते हैं। कारणपरमात्मा का

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२६३
२. वही, पृष्ठ १२६३ ३. वही, पृष्ठ १२६४

अनुभव करते हैं, सभी न्यायों और सिद्धान्तों में पारंगत होते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषयों के फैलाव रहित अतीन्द्रियस्वभाव में लीन रहते हैं, उनके देहमात्र परिग्रह के अलावा अन्य कोई परिग्रह नहीं होता।

उनकी देह मात्र संयम के लिए होती है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। निर्ग्रन्थ मुनियों का त्रिकाल ऐसा स्वरूप होता है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मेरे मुख से परमागम झरता है। इस नियमसार की टीका परम-आगम है। जिसप्रकार करोड़पति कहता है कि हमारी हुंडियाँ (चैक) कभी वापस नहीं होतीं; उसीप्रकार मुनिराज कहते हैं कि जो अनन्त केवलियों ने कहा है, वही मैं कहता हूँ। वह अफर है अर्थात् वह कभी बदलता नहीं है। मैं भावलिंगी मुनि हूँ और वक्ता की प्रामाणिकता से वचन प्रमाण होते हैं, इसलिए मेरी की हुई टीका परम-आगम है। जिसप्रकार पुष्प में से मकरंद झरता है, उसीप्रकार आगमरूपी मकरंद मेरे मुखकमल में से झरता है।[१]''

इसीप्रकार के भाव की पोषक एक गाथा अष्टपाहुड़ में आती है; जो इसप्रकार है ह्न

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दमाणस्स सम्मत्तं।।[२]

(हरिगीत)

जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें।।

जो शक्य हो वह करें और जो शक्य न हों, उसका श्रद्धान करें; क्योंकि केवली भगवान ने कहा है कि श्रद्धान करनेवाले को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में जो गाथायें छपी रहती हैं, उनमें भी इसप्रकार की एक गाथा आती है, जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२६४-१२६५
२. अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा २२

जं सक्कइ तं कीरइ जं ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहभावो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं।।

जो शक्य है, वह करना चाहिए, पर जो शक्य नहीं है, उसका श्रद्धान करना चाहिए; क्योंकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर-अमर स्थान (मुक्ति) को प्राप्त करता है।

नियमसार की इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि यदि शक्य है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि ही करना चाहिए; अन्यथा इनका श्रद्धान तो अवश्य करना ही चाहिए।

यह बात साधारण मुनिराजों की ही नहीं है, अपितु महान वैरागी, परद्रव्य से विमुख, स्वद्रव्य ग्रहण में चतुर, देहमात्र परिग्रह के धारी पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे मुनि शार्दूलों से यह बात कही जा रही है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्नघजिननाथस्य भवति।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्।।२६४।।

(हरिगीत)

पापमय कलिकाल में जिननाथ के भी मार्ग में।
मुक्ति होती है नहीं निजध्यान संभव न लगे।।
तो साधकों को सतत आतमज्ञान करना चाहिए।
निज त्रिकाली आत्म का श्रद्धान करना चाहिए।।२६४।।

इस असार संसार में पाप की बहुलतावाले कलिकाल के विलास में निर्दोष जिननाथ के मार्ग में भी मुक्ति नहीं है। इसलिए इस काल में आत्मध्यान कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि ध्यान की विरलता है। शुक्लध्यान तो है ही नहीं, निश्चय धर्मध्यान भी विरल है।

ऐसी स्थिति में निर्मल बुद्धिवालों को भवभय को नाश करनेवाले निज के आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए, उसे जानना चाहिए और उसमें ही अपनापन स्थापित करना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस असार संसार में पाप से भरपूर कलिकाल का विलास है। देह की क्रिया और पुण्य से धर्म माननेवाले लोग बहुत हैं।[१]

इस काल में सर्वज्ञदेव द्वारा प्ररूपित मार्ग में भी पर्याय में साक्षात् मोक्ष नहीं कहा है, पर्याय में केवलज्ञान की प्राप्ति होना नहीं कहा है।

अहो! वीतरागी मार्ग में भी मुक्ति नहीं है, तब फिर अन्यमत में तो कहाँ से होगी; इसलिए इस काल में आत्मा में विशेष लीनता और ध्यान भी कहाँ से हो? अर्थात् जिस ध्यान से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, वह ध्यान इस काल में नहीं होता; इसलिए जिसे भवभय का नाश करना हो, 'मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानानन्दमूर्ति हूँ' ऐसी श्रद्धा अंगीकार करने के बाद अप्रमत्तदशा धारण कर अंतर में संपूर्णपने स्थिर होने की श्रद्धा रखनी चाहिए। आत्मा में भव ही नहीं है, शरीर-मन-वाणी नहीं है। मेरा क्या होगा, मैं कहाँ जाऊँगा - ऐसी शंका भी धर्मी को नहीं होती। चैतन्य की निशंक श्रद्धा तो धर्मी को है ही, यहाँ तो उससे आगे मुनि की बात कही है। अतः श्रद्धा-उपरान्त अप्रमत्त वीतरागी चारित्र की श्रद्धा रखना ह्न ऐसा कहा है और मुनिराज अपने में ऐसी अडिग श्रद्धा रखते हैं।[२]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि **जब इस पंचमकाल में जैनदर्शन में भी मुक्ति नहीं है तो फिर अन्यत्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में यदि हमें आत्मध्यान दुर्लभ लगता है तो फिर कम से कम हमें उक्त सही मार्ग का श्रद्धान तो करना ही चाहिए ।।२६४।।**

●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२६८
२. वही, पृष्ठ १२६८

नियमसार गाथा १५५

विगत गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहने के उपरान्त कि यदि कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करो, अन्यथा उनका श्रद्धान करो; अब इस गाथा में जिनागमकथित निश्चय प्रतिक्रमणादि करने की प्रेरणा दे रहे हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहए णिच्चं ।।१५५।।

(हरिगीत)

जिनवरकथित जिनसूत्र में प्रतिक्रमण आदिक जो कहे।
कर परीक्षा फिर मौन से निजकार्य करना चाहिए ।।१५५।।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये परमागम में प्राप्त प्रतिक्रमणादि की भले प्रकार परीक्षा करके मौन होकर योगी को प्रतिदिन अपना कार्य साधना चाहिए।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ साक्षात् अन्तर्मुख परमजिन योगी को यह शिक्षा दी गई है।

श्रीमद् अरहंत भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए समस्त पदार्थ जिसके भीतर समाये हुए हैं ह्न ऐसी चतुर शब्द रचनारूप द्रव्यश्रुत में कही गई शुद्ध निश्चयनयात्मक परमात्मध्यानात्मक प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर, केवल स्वकार्य में परायण परमजिनयोगीश्वर प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचन रचना को परित्याग कर, सम्पूर्ण संग (परिग्रह) की आशक्ति को छोड़कर, अकेला होकर, मौन व्रत सहित समस्त पशुजनों (पशु समान अज्ञानी मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी अव्यग्र रहकर निज कार्य को निरन्तर साधना चाहिए; क्योंकि वह आत्मध्यानरूप निजकार्य मुक्तिरूपी सुलोचना के सम्भोग के सुख का मूल है।''

इस गाथा और इसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''प्रतिक्रमण आदि में बोले जानेवाले शब्द जड़ हैं तथा बाह्य प्रतिक्रमण आदि करने का भाव शुभराग है, जो कि भूमिकानुसार आये बिना नहीं रहता। वह पुण्य है और पुण्य-पाप रहित शुद्ध आत्मा के आश्रय से उत्पन्न निर्विकारी क्रिया, प्रतिक्रमण आदि की शुद्धक्रिया है और वही मोक्षमार्ग की आवश्यक क्रिया है; ऐसी आवश्यक और यथार्थ क्रिया के ज्ञानपूर्वक मुनिराज मौनव्रत धारण कर स्वभाव में एकाग्र होते हैं।[१]

जिसने अपने आत्मस्वरूप को समझकर उसमें एकाग्रता की है, वही योगी है - ऐसा भान तो चौथे गुणस्थानवर्ती के हो जाता है। उसके बाद स्वरूप में विशेष स्थिरता करनेवाले को परमयोगी कहते हैं - ऐसे योगी प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचन-रचना तथा इसीप्रकार सर्वसंग की आसक्ति छोड़कर और मौनव्रत धारण कर अकेले ध्यान में रहकर अपना निज कार्य करते हैं अर्थात् मोक्ष के कारणस्वरूप अपने आत्मा में ही लीन रहते हैं।[२]

यहाँ सच्चे तत्त्व का विरोध करनेवाले अज्ञानी जीवों को पशु कहा है। जिसप्रकार पशु को विवेक नहीं होता, उसीप्रकार अज्ञानी को भी सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता।[३]

शरीर के अनन्त परमाणु एक क्षण में बिखर जाते हैं/ पलट जाते हैं, वे भी तेरी बात नहीं मानते, अतः तुझे उसके बारे में भी विकल्प नहीं करना है, तब फिर मनुष्य तो असंख्यात हैं, यदि वे तेरा विरोध करते हैं तो तुझे उनके सामने भी नहीं देखना चाहिए। इज्जत-आबरू रहनी होगी तो रहेगी, जानी होगी तो जायेगी, बाहर में जो होना होगा वह होगा, तुझे उसकी ओर नहीं देखना है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७०
२. वही, पृष्ठ १२७२
३. वही, पृष्ठ १२७२-१२७३

तात्पर्य यह है कि तुझे अपने उपयोग को उनमें नहीं लगाना है। तुझे तो उनके प्रति होनेवाले राग को भी छोड़कर और निजस्वभाव के आलम्बनपूर्वक मोक्षदशारूप निजकार्य साधना है।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका में एक ही बात कही गई है कि योगियों का एकमात्र कर्त्तव्य निज आत्मा की साधना-आराधना है। वह साधना एकमात्र केवली की वाणी में समागत द्रव्यश्रुत में ग्रथित निश्चय परम प्रतिक्रमणादिरूप है; क्योंकि प्रतिक्रमणादि सभी आवश्यक एकमात्र आत्मध्यान में समाहित हैं।।१५५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं, उनमें से प्रथम छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीम्।
मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं चात्मनात्मा
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः।।२६५।।

(हरिगीत)

पशूवत् अल्पज्ञ जनकृत भयों को परित्याग कर।
शुभाशुभ भववर्धिनी सब वचन रचना त्याग कर।।
कनक-कामिनी मोह तज सुख-शांति पाने के लिए।
निज आतमा में जमे मुक्तीधाम जाने के लिए।।२६५।।

आत्मज्ञानी मुमुक्षु जीव, पशुजन (अज्ञानी जगत) कृत समस्त लौकिक भय को तथा घोर संसार करनेवाली समस्त प्रशस्त-अप्रशस्त वचररचना को छोड़कर और कनक-कामिनी संबंधी मोह तजकर मुक्ति के लिए स्वयं अपने से अपने में ही अचल स्थिति को प्राप्त होते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७३-१२७४

''मुनियों को अप्रशस्त राग बहुत अल्प होता है। देव-गुरु की भक्ति, स्वाध्याय, पठन-पाठन का राग प्रशस्त है, उस राग को भी संसार का करनेवाला कहा है। व्यवहार करते-करते धर्म हो जायेगा - यह बात तो यहाँ है ही नहीं; परन्तु आत्मा के भानपूर्वक मुनियों को जो अस्थिरताजन्य शुभराग आता है, वह भी घोर संसार है। वचनरचना अर्थात् प्रतिक्रमण प्रायश्चित आदि की भाषा तो जड़ है, आत्मा उसे कर नहीं सकता, इसीप्रकार आत्मा उसे छोड़ भी नहीं सकता है; परन्तु वह पाठ बोलने संबंधी प्रशस्त राग को छोड़ता है ह्न ऐसा भावार्थ है।[1]

परपदार्थ से रहित, विकार से रहित अविकारी ज्ञानानंदस्वभाव में श्रद्धान, ज्ञान और लीनता करने पर मोह-राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। इसे ही मोह को छोड़ा ह्न ऐसा कहा जाता है। आत्मा में जड़ का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं; परन्तु विकार को छोड़ना ये भी नाममात्र है। विकार पर्यायबुद्धि से नहीं छूटता; परन्तु स्वभावबुद्धि होने पर विकार उत्पन्न ही नहीं होता।

इसप्रकार कनक-कामिनी के मोह को छोड़कर अपनी परमानंद दशा प्राप्त करने के लिए अपने से अपने को अपने में ही अविचल करो ह्न स्थिर करो। व्यवहार राग और व्यवहार रत्नत्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु अपने से ही कल्याण होता है। इसलिए निमित्त में, राग में स्थित होने को नहीं कहा; परन्तु अपने शुद्धस्वभाव में स्थित होने को कहा है।[2]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि आतमज्ञानी मुमुक्षु जीव तो अज्ञानियों द्वारा उत्पन्न लौकिक भय, घोर संसार का कारण प्रशस्त और अप्रशस्त वचनरचना तथा कनक-कामिनी संबंधी मोह को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपने आत्मा में जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७५

२. वही, पृष्ठ १२७६

तात्पर्य यह है कि यदि हम भी अपना कल्याण करना चाहते हैं तो मन, वचन और काय संबंधी समस्त प्रपंचों का त्याग कर हमें भी स्वयं में समा जाना चाहिए। अपने में अपनापन स्थापित करके स्वयं के ज्ञान-ध्यान में लग जाना चाहिए; क्योंकि स्वयं के श्रद्धान और ज्ञान-ध्यान में सभी निश्चय परमावश्यक समाये हुए हैं।।२६५।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

भींतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम्।
आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम्।।२६६।।

(हरिगीत)

कुशल आत्मप्रवाद में परमात्मज्ञानी मुनीजन।
पशुजनों कृत भयंकर भय आत्मबल से त्याग कर।।
सभी लौकिक जल्प तज सुखशान्तिदायक आतमा।
को जानकर पहिचानकर ध्यावें सदा निज आतमा।।२६६।।

आत्मप्रवाद नामक श्रुत में कुशल परमात्मज्ञानी मुनि पशुजनों (अज्ञानीजनों) द्वारा किये जानेवाले भय को छोड़कर और सम्पूर्ण लौकिक जल्पजाल को तजकर शाश्वत सुखदायक एक निज तत्त्व को प्राप्त होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसे मुनिराज को परमात्मज्ञानी कहा है कि जो मुख्यतः आत्मा का वर्णन करनेवाले शास्त्रों में कुशल हैं, अध्यात्मतत्त्व के मर्म को जाननेवाले अध्यात्मज्ञानी हैं, छठवें-सातवें गुणस्थान के आनन्द प्रवाह में झूलते हैं।[1]

परपदार्थ में फेर-बदल करना तो आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७७

पर राग को बदलने का स्वभाव भी आत्मा में नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो मात्र जानने का है अर्थात् जानना ही एकमात्र आत्मा का कर्तव्य है। इसलिए फेर-बदल करने की दृष्टि को ही फेरना/बदलना है। जो दृष्टि अभी तक पुण्य-पाप में अटकी हुई है, उसे स्वभावसन्मुख करने पर सबकुछ बदल जाता है। अज्ञानियों का सम्पूर्ण अभिप्राय मिथ्या होता है। इसलिए उनकी ओर ध्यान मत दो और उनके द्वारा किये जानेवाले उपद्रवों के भय से मुक्त हो जावो।[1]

जड़ वाणी का तथा उसके प्रति होनेवाले राग का लक्ष्य छोड़ने पर ही शाश्वत सुखदायी तत्त्व की प्राप्ति होती है। राग, पुण्य-पाप और निमित्त सुखदायी नहीं है; परन्तु एकमात्र निज ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा ही अतीन्द्रिय सुखदायी है और उसकी साधना ही आवश्यक क्रिया है। बाकी सम्पूर्ण शुभ-अशुभ भाव हेय हैं, उनसे कल्याण नहीं होता। निजतत्त्व की प्राप्ति ही एकमात्र सुख का मार्ग है।[2]''

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक शास्त्रों के अध्येता मुनिवर; अज्ञानियों द्वारा किये गये उपद्रवों की परवाह न करके, लौकिक जल्पजाल को छोड़कर शाश्वत सुख देनेवाले आत्मा की आराधना करते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि हमें आत्मकल्याण करना है तो हमें निज आत्मा की आराधना करना चाहिए।।२६६।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७७ २. वही, पृष्ठ १२७८

> इस जगत में बुराइयों की तो कमी नहीं है, सर्वत्र कुछ न कुछ मिल ही जाती हैं; पर बुराइयों को न देखकर अच्छाइयों को देखने की आदत डालनी चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने का अभ्यास करना चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने से अच्छाइयाँ फैलती हैं और बुराइयों की चर्चा करने से बुराइयाँ फैलती हैं। अत: यदि हम चाहते हैं कि जगत में अच्छाइयाँ फैलें तो हमें अच्छाइयों को देखने-सुनने और सुनाने की आदत डालनी चाहिए। चर्चा तो वही अपेक्षित होती, जिससे कुछ अच्छा समझने को मिले, सीखने को मिले।
>
> **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८७**

नियमसार गाथा १५६

विगत गाथा में सब ओर से उपयोग हटाकर अपने आत्मा के हित में गहराई से लगना चाहिए ह्न ऐसा कहा था; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि स्वमत और परमतवालों के साथ वाद-विवाद में उलझना ठीक नहीं है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।१५६।।

(हरिगीत)

हैं जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही।
अतएव वर्जित बाद है निज पर समय के साथ भी।।१५६।।

जीव अनेक प्रकार के हैं, कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और लब्धियाँ भी अनेक प्रकार की हैं; इसलिए साधर्मी और विधर्मियों के साथ वचन-विवाद वर्जनीय है, निषेध करने योग्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह वचनसंबंधी व्यापार से निवृत्ति के हेतु से किया गया कथन है।

जीव अनेक प्रकार के हैं। मुक्त जीव-अमुक्त जीव (संसारी जीव), भव्य जीव-अभव्य जीव। संसारी जीव ह्न त्रस और स्थावर। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय में संज्ञी-असंज्ञी ह्न इसप्रकार त्रस जीव पाँच प्रकार के हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ह्न ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं।

भविष्यकाल में स्वभाव-अनन्तचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणों रूप से भवन-परिणमन के योग्य जीव भव्य हैं और उनसे विपरीत अभव्य हैं।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ह्न ऐसे भेदों के कारण अथवा आठ मूल प्रकृति और एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृति के भेद से

अथवा तीव्रतर, तीव्र, मंद और मन्दतर उदय भेदों के कारण अनेक प्रकार हैं।

जीवों को सुखादि की प्राप्तिरूप लब्धि ह्न काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदों के कारण पाँच प्रकार की है।

इसलिए परमार्थ के जाननेवालों को स्वसमयों और परसमयों के साथ वाद-विवाद करना योग्य नहीं है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि हे प्राणियो! इस जगत में अनेक प्रकार के जीव हैं, भव्य भी हैं और अभव्य भी हैं। तू किस-किस को समझायेगा? तू तो स्वयं समझ कर अपने में स्थिर हो जा। जिसकी योग्यता होगी, वह समझ जायेगा और अयोग्य जीव तो साक्षात् भगवान के समवशरण में जाकर भी नहीं समझते हैं। इसलिए समझाने का विकल्प से शांत हो और स्वयं समझकर अपने में स्थिर हो जा। वाद-विवाद से पार पड़े ह्न ऐसा नहीं है।

तथा सभी जीव निमित्त अपेक्षा अनेक प्रकार के कर्मवाले हैं, अनेक प्रकार की लब्धिवाले हैं, अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न योग्यतावाले हैं; तू किस-किसको समझायेगा? इसलिए चाहे वह जैनधर्मावलम्बी हो या अन्य धर्मावलम्बी हो किसी के भी साथ वाद-विवाद नहीं करना चाहिए।[१]''

उक्त गाथा में तो मात्र यही कहा गया है कि जीव अनेक प्रकार हैं, उनके कर्म (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और देहादि नोकर्म अथवा कार्य) अनेक प्रकार के हैं और उनकी लब्धियाँ, उपलब्धियाँ भी अनेक प्रकार की हैं; अत: सभी की समझ, मान्यता, विचारधारा एक कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि सभी जीव के परिणामों में विभिन्नता देखी जाती है, मतभेद पाया जाता है; इसकारण सभी को

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२८०

एकमत करना संभव नहीं है, समझाना भी संभव नहीं है; क्योंकि बहुत कुछ सामनेवाले की योग्यता पर ही निर्भर होता है।

यदि तुझे समझाने का भाव आता है तो कोई बात नहीं; अपने विकल्प की पूर्ति कर ले; पर तेरे समझाने पर भी कोई न माने, स्वीकार न करे तो अधिक विकल्प करने से कोई लाभ नहीं।

समझाने के विकल्प से किसी से वाद-विवाद करना तो कदापि ठीक नहीं है। न तो अपने मतवाले के साथ और न अन्यमतवालों के साथ विवाद करना कदापि ठीक नहीं है।

टीकाकार मुनिराज ने नाना जीव का अर्थ करते हुए जीवों के मुक्त और संसारी, संसारियों के त्रस और स्थावरादि भेद गिना दिये अथवा भव्य-अभव्य की बात कर दी। उनका स्वरूप भी संक्षेप में समझा दिया। कर्म में ज्ञानावरणादि ८ मूल प्रकृतियों और १४८ उत्तर प्रकृतियों की चर्चा कर दी। लब्धियों के भी पाँच भेद गिना दिये।

मैं क्षमायाचनापूर्वक अत्यन्त विनम्रता के साथ कहना चाहता हूँ कि मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ इन सब की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि एक तो नियमसार का अध्येता इन सब जैनदर्शन संबंधी प्राथमिक बातों से भलीभाँति परिचित ही है; दूसरे यहाँ मुख्य वजन तो स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद नहीं करने की बात पर है।

समझने-समझाने के विकल्प में पड़ कर वाद-विवाद में उलझ जाना समझदारी का काम नहीं है, केवल मनुष्यभव के कीमती समय को व्यर्थ में बर्बाद करना ही है। गृहस्थों को भी उक्त महत्त्वपूर्ण सलाह अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु मुनियों के लिए तो अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य है।

नाना जीव का आशय विभिन्न रुचिवाले जीवों से है। आचार्य अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में इसप्रकार के प्रसंग में ऐसा ही कहा है। वे लिखते हैं ह्न **''विभिन्नरुचय: हि लोका: ह्न** लौकिकजन भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं।''

इसीप्रकार कर्मों के उदय से होनेवाले जीव के औदयिक भाव भी अनेक प्रकार के होते हैं तथा लब्धि अर्थात् पर्यायगत योग्यता भी प्रत्येक जीव की प्रतिसमय भिन्न-भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में सबका एकमत होना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है।

इसप्रकार यहाँ लब्धियों के माध्यम से क्षणिक उपादान के रूप में पर्यायगत योग्यता, अंतरंग निमित्त के रूप में कर्मोदय और जीवों के रूप में त्रिकाली उपादान को ले लिया गया है।

कहने का आशय यह है कि समझ में आने के लिए उसका द्रव्य-स्वभाव, पर्यायस्वभाव और अंतरंग निमित्त जिम्मेवार हैं; यदि उसकी समझ में आ जावे तो भी तू मात्र बहिरंग निमित्त होगा। इसलिए समझाने के विकल्प से वाद-विवाद करना समझदारी नहीं है।।१५६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज उक्त भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं, जिसमें गाथा की मूल बात को पूरी तरह दुहरा दिया है।

उक्त छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकर:
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम्।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
तत: कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम्।।२६७।।

(हरिगीत)

संसारकारक भेद जीवों के अनेक प्रकार हैं।
भव जन्मदाता कर्म भी जग में अनेक प्रकार हैं।।
लब्धियाँ भी हैं विविध इस विमल जिनमारगविषें।
स्वपरमत के साथ में न विवाद करना चाहिए।।२६७।।

जीवों के संसार के कारणभूत अनेक प्रकार के भेद हैं, जन्मोत्पादक कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और निर्मल जैनमार्ग में लब्धियाँ भी अनेक प्रकार की प्रसिद्ध हैं। इसलिए स्वसमय और परसमय के साथ विवाद करना कर्त्तव्य नहीं है।

विकल्प शब्द का अर्थ भेद भी होता है; इसकारण गाथा के अनुसार यहाँ विकल्प का अर्थ भेद मानकर ही अर्थ किया गया है। तथापि मन में उठनेवाले अनेक प्रकार के भावों को भी विकल्प कहते हैं।

यदि इसके अनुसार अर्थ किया जाये तो ऐसा भी कर सकते हैं कि जीवों के संसार-वर्धक अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं, मान्यताएँ होती हैं। इसीप्रकार कर्म का अर्थ कार्य भी होता है। तात्पर्य यह है कि लोगों के कार्य भी अनेक प्रकार के हैं। पर्यायगत योग्यता को लब्धि कहते हैं। 'लब्धियाँ अनेक प्रकार की हैं' ह्न का अर्थ यह भी हो सकता है कि जीवों की पर्यायगत योग्यतायें भी अनेक प्रकार की हैं, विभिन्न प्रकार की हैं।

इसप्रकार इस छन्द का एक सहज अर्थ यह भी किया जा सकता है कि जीवों के मन में अनेक प्रकार की विकल्प तरंगे उठती हैं, उनके अनेक प्रकार के कार्य देखे जाते हैं और उनकी पर्यायगत योग्यताएँ भी अलग-अलग होती हैं। इसकारण सब का एकमत हो पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। अत: आत्मार्थियों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे उक्त संदर्भ में किसी से भी वाद-विवाद में न उलझें।

ध्यान रहे, समझना-समझाना अलग बात है और वाद-विवाद करना अलग। समझने-समझाने का भाव ज्ञानीजनों को भी आ सकता है, आता भी है, वे समझाते भी हैं; पर वे किसी से वाद-विवाद में नहीं उलझते।

वाद-विवाद में जीत-हार की भावना रहती है; जबकि समझने में जिज्ञासा और समझाने में करुणाभाव रहता है। यही कारण है कि साधर्मी भाई-बहिनों में तत्त्वचर्चा तो होती है, पर वाद-विवाद नहीं।

यहाँ वाद-विवाद का निषेध है; चर्चा-वार्ता का नहीं, शंका-समाधान का नहीं, पठन-पाठन का भी नहीं; क्योंकि ये तो स्वाध्याय तप के भेद हैं।।२६७।।

●

नियमसार गाथा १५७

विगत गाथा में किसी के भी साथ वाद-विवाद करने का निषेध किया गया है और अब इस गाथा में उदाहरण के माध्यम से यह कहते हैं कि यदि तुझे निधि मिल गई है तो उसे तू गुप्त रहकर क्यों नहीं भोगता ?

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।।१५७।।

(हरिगीत)

ज्यों निधी पाकर निजवतन में गुप्त रह जन भोगते।
त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते।।१५७।।

जैसे कोई एक दरिद्र मनुष्य निधि (खजाना) को पाकर अपने वतन में गुप्त रहकर उसके फल को भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानीजन भी परजनों की संगति को छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ दृष्टान्त द्वारा सहज तत्त्व की आराधना की विधि बताई गई है। कोई एक दरिद्र मनुष्य क्वचित् कदाचित् पुण्योदय से निधि को पाकर, उस निधि के फल को जन्मभूमिरूप गुप्तस्थान में रहकर अति गुप्तरूप से भोगता है ह्न यह दृष्टान्त का पक्ष है।

दार्ष्टान्त पक्ष से भी सहज परमतत्त्वज्ञानी जीव क्वचित् आसन्न भव्यतारूप गुण का उदय होने से सहज वैराग्य सम्पत्ति होने पर, परमगुरु के चरणकमल युगल की निरतिशय भक्ति द्वारा मुक्ति सुन्दरी के मुख के पराग के समान सहज ज्ञाननिधि को पाकर स्वरूपप्राप्ति रहित जनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण जानकर उन्हें छोड़ता है।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जैसे किसी गरीब आदमी को पूर्वपुण्योदय से जमीन बोते हुये अरब रुपयों की सम्पत्ति मिले तो वह उसे एकान्त में जाकर भोगता है, उसके बारे में किसी को नहीं बताता; क्योंकि दूसरे को बताने से उसे भी कुछ देना पड़ सकता है। उसीप्रकार ज्ञानीजीव भी परजनों से दूर रहकर अपनी ज्ञाननिधि को भोगता है। ज्ञाननिधि तो ऐसी है कि उसमें लीन हो जावें तो केवलज्ञान प्रगट हो जाये।[१]

गुरु कहते हैं कि यह वस्तुस्वरूप समझकर तू अपने में समा जा, दूसरों को समझाने का विकल्प छोड़ दे; क्योंकि अज्ञानी जीव बहुत स्वच्छन्दी हैं, उन्हें समझाने से तुम्हारे ध्यान में विघ्न उत्पन्न होगा।

वास्तव में भगवान के कथन को अज्ञानी जीव नहीं समझ सकते, परन्तु भाग्यवंत पुरुषार्थवंत एवं निकट मोक्षगामी जीव को यह बात सहज समझ में आती है।[२]''

यह एक सीधी सहज सरल गाथा है, इसमें इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार लोक में यदि किसी को कोई गुप्त खजाना मिल जावे तो वह उसे अत्यन्त गुप्त रहकर भोगता है; किसी को भी नहीं बताता। उसीप्रकार ज्ञानीजन भी रत्नत्रयरूप निधि पाकर उसे गुप्त रहकर भोगते हैं, उसका प्रदर्शन नहीं करते।

मूल गाथा में तो परसंग छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगने की बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही है; पर न जाने क्यों टीकाकार परसंग को छोड़ने की बात कहकर ही बात समाप्त कर देते हैं; ज्ञाननिधि को भोगने की बात ही नहीं करते।

'हम आत्मज्ञानी हैं' ह्न इस बात का ढिंढ़ोरा पीटनेवालों को इस प्रकरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि यदि हमें आत्मानुभूतिरूप निधि की प्राप्ति हो गई है तो उसे गुप्त रहकर क्यों नहीं भोगते, उसका ढ़िंढोरा क्यों पीटते हैं ?।।१५७।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२९१
२. वही, पृष्ठ १३०१

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

अस्मिन् लोके लौकिक: कश्चिदेक:
लब्ध्वा पुण्यात्कांचनानां समूहम् ।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो
ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ।।२६८।।

(हरिगीत)

पुण्योदयों से प्राप्त कांचन आदि वैभव लोक में।
गुप्त रहकर भोगते जन जिस तरह इस लोक में।।
उस तरह सद्ज्ञान की रक्षा करें धर्मातमा।
सब संग त्यागी ज्ञानीजन सद्ज्ञान के आलोक में।।२६८।।

इस लोक में कोई एक लौकिकजन पुण्योदय से प्राप्त स्वर्णादि धन के समूह को गुप्त रहकर वर्तता है, भोगता है; उसीप्रकार परिग्रह रहित ज्ञानी भी अपनी ज्ञाननिधि की रक्षा करता है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार किसी व्यक्ति को पुण्योदय से धन मिला, तो उसे वह स्वदेश में जाकर, गुप्त स्थान में रहकर भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानी जीव भी स्वयं की चिदानन्द निधि को पाकर उसकी रक्षा करता है। देह, मन, वाणी, धन आदि बाह्य पदार्थ निजनिधि नहीं हैं तथा आत्मा में उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभरूप विकारीभाव भी आत्मनिधि नहीं हैं, बल्कि वे तो विकार हैं। वास्तव में ज्ञान का आनन्दरूप स्वभाव ही निजनिधि है।

इसप्रकार निजज्ञाननिधि के श्रद्धान-ज्ञान द्वारा उसकी रक्षा करना ही वास्तविक धर्म है। जीव शरीरादि बाह्य पदार्थों की रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि वह जड़ पदार्थों में बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता। तथा इन शुभाशुभ भावों का अपने आपको स्वामी मानना भी अज्ञानभाव है; क्योंकि ये विकारीभाव हैं, स्वभावभाव नहीं हैं। साधकदशा में

शुभाशुभ राग आता अवश्य है, परन्तु वह विकार है, उपाधि है; आत्मा के कल्याण के लिए व्यर्थ है। इसलिए पुण्य-पाप से रहित निजज्ञान-स्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान करके उसमें लीन होना ही ज्ञान की रक्षा है और वही निश्चयधर्म है। - ऐसा जानकर धर्मीजीव निजज्ञाननिधि को गुप्त रहकर भोगता है, पर के साथ वाद-विवाद नहीं करता।[1]''

यद्यपि उक्त छन्द में एक प्रकार से गाथा की बात को ही दुहरा दिया गया है; तथापि गाथा और छन्द की बात में कुछ अन्तर भी है।

गाथा में निजनिधि को भोगने की बात है, पर छन्द में निजनिधि की रक्षा करने की बात कही गई है और टीका में मात्र परसंग छोड़ने की ही बात आती है।

गाथा, टीका और कलश (छन्द) ह्न तीनों में जो बात मूलत: कही गई है; उसका भाव मात्र इतना ही है कि सम्यक्त्व या आत्मानुभूति दर्शन की चीज है, प्रदर्शन की नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हें आत्मानुभूति हो गई है, अतीन्द्रिय-आनन्द की प्राप्ति हो गई है तो फिर शान्ति से एकान्त में उसे क्यों नहीं भोगते, उसका प्रदर्शन क्यों करते हो?।।२६८।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा संगं जननमरणांतकहेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्ररूपे
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयाम: ।।२६९ ।।

(वीर छन्द)

जनम-मरण का हेतु परिग्रह अरे पूर्णत: उसको छोड़।
हृदय कमल में बुद्धिपूर्वक जगविराग में मन को जोड़।।
परमानन्द निराकुल निज में पुरुषारथ से थिर होकर।
मोह क्षीण होने पर तृणसम हम देखें इस जग की ओर।।२६९।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३०२-१३०३

जन्म-मरणरूपी रोग के कारणभूत समस्त परिग्रह को छोड़कर, हृदय कमल में बुद्धिपूर्वक पूर्ण वैराग्य भाव धारण करके, सहज परमानन्द से अव्यग्र अनाकुल निजरूप में पुरुषार्थपूर्वक स्थित होकर, मोह के क्षीण होने पर हम इस लोक को सदा तृण समान देखते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ मुख्यरूप से मुनिराज की बात है। मुनिराज को लक्ष्य करके कहा जा रहा है कि हे मुनिराज! तुम्हारे चैतन्यस्वभाव में, अनाकुल शान्ति में रहनेवाली जो आवश्यक क्रिया है, वही तुम्हारा स्वरूप है।

पुण्य-पाप के भाव तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं; क्योंकि वे यदि स्वभाव होते तो उन्हें कायम रहना चाहिए; परन्तु अशुद्धता सिद्धों में से निकल जाती हैं; अतः वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। ज्ञानस्वभाव ही तुम्हारा स्वरूप है, उसमें एकाग्र होना ही मुक्ति का मार्ग है तथा जो तुम्हें २८ मूलगुण पालन करने का शुभ विकल्प आता है, वह पुण्यास्रव और आकुलता है। वह तुम्हारी आत्मलीनता में कारण नहीं है।

अतः स्वरूप में ऐसे लीन हो जाओ कि मोह का नाश हो जाय।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव महासमर्थ मुनि थे। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। वे कहते हैं कि हम अपने ज्ञानस्वभाव में स्थित रहकर मोह क्षीण होने पर लोक को सदा तृणवत् देखते हैं।

देखो; यह मुनिदशा! मुनिराज के लिए इन्द्रों का इन्द्रासन, सर्वार्थसिद्धि देव की पर्याय, समवशरणादि तृण समान हैं। वे पदार्थ हमारे स्वभाव में नहीं हैं, वे तो ज्ञाता के ज्ञेय हैं।

जिसप्रकार जगत में तृण ज्ञान का ज्ञेय मात्र होता है, उसका अन्य कोई मूल्य नहीं है; उसीप्रकार समस्त जगत घास के ढेर के समान हमारे ज्ञान में ज्ञात होता है; परन्तु हमारे लिए उसका कोई मूल्य नहीं है।

हमारे ज्ञानस्वभाव में तो भगवान भी ज्ञेयरूप से प्रतिभासित होते हैं

तथा उनके प्रति होनेवाला शुभराग का भी हमारे लिये तो कोई मूल्य नहीं है, वह हमारे किसी काम का नहीं है।

हमको तो हमारी महिमा आती है। हमारे भगवान तो हम स्वयं ही हैं। हमारा आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है - ऐसी प्रतीति हमें निरन्तर वर्तती है। हमारे माहात्म्य के सामने जगत की कोई चीज अथवा शुभराग का माहात्म्य नहीं है। इसप्रकार शुद्धचैतन्यस्वभाव की महिमा उत्पन्न करना तथा राग और पुण्य की महिमा छोड़ना ही आवश्यक क्रिया है तथा वही मुक्ति का मार्ग है, धार्मिक क्रिया है।[1]''

ध्यान देने की बात यह है कि टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस छन्द में उत्तम पुरुष में अत्यन्त स्पष्टरूप से लिख रहे हैं कि हम सम्पूर्ण लोक को तृणवत देखते हैं। यद्यपि यह बात भी सत्य हो सकती है, होगी ही; तथापि छन्द का मूल भाव यही है कि जिसका मोह क्षीण हो गया है; उन वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण जगत तृणवत् तुच्छ है। उन्हें इस जगत से कोई अपेक्षा नहीं है।

जबतक किसी व्यक्ति को यह सम्पूर्ण जगत, उसका वैभव, घास के तिनके के समान तुच्छ भासित न हो 'उसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है' ह्न यह बात अन्तर की गहराई से न उठे; तबतक वह जगत के इस वैभव को ठुकरा कर, सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति का त्याग कर नग्न दिगम्बर मुनिदशा कैसे स्वीकार कर सकता है ?

यदि कोई व्यक्ति लौकिक सुख की कामना से, यश के लोभ से या अज्ञान से नग्न दिगम्बर दशा धारण करता है तो ऐसे व्यक्ति को अष्टपाहुड में नटश्रमण कहा है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार नट विभिन्न वेष धारण करता है; उसीप्रकार इसने भी नग्न दिगम्बर दशा धारण की है; अत: यह सच्चा दिगम्बर मुनि नहीं है।।२६९।। ●

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३०८-१३०९

नियमसार गाथा १५८

यह निश्चय परमावश्यक अधिकार के उपसंहार की गाथा है। इसमें कहा गया है कि आजतक जो भी महापुरुष केवली हुए हैं; वे सभी उक्त निश्चय आवश्यक को प्राप्त करके ही हुए हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा।।१५८।।

(हरिगीत)

यों सभी पौराणिक पुरुष आवश्यकों को धारकर।
अप्रमत्तादिक गुणस्थानक पार कर केवलि हुए।।१५८।।

सभी पौराणिक महापुरुष इसप्रकार के आवश्यक करके, अप्रमत्तादि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हुए हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का कथन है।

स्वयंबुद्ध तीर्थंकर परमदेवादि एवं बोधित बुद्ध अप्रमत्तादि गुणस्थानों से लेकर सयोग केवली पर्यन्त गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ सभी पुराण पुरुष साक्षात् मुक्तिरूपी स्त्री के अशरीरी सुख के कारण को जानकर बाह्य व्यवहार आवश्यकादि क्रिया से प्रतिपक्ष (विरुद्ध) अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानस्वरूप शुद्ध निश्चय परमावश्यकरूप आत्माराधना के प्रसाद से सकल प्रत्यक्ष ज्ञानधारी केवली हुए हैं।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से जो निर्मलता प्रगट होती है, उस निर्मलता से सभी जीव मोक्षदशा प्राप्त करते हैं। सभी पुराणपुरुष अर्थात्

सभी अतीतकालीन महापुरुषों ने इसी विधि से मोक्ष प्राप्त किया है, नये-पुराने लोगों के लिये अलग-अलग विधि नहीं है; बल्कि भूतकालीन पुरुषों ने इस ही विधि से मोक्ष प्राप्त किया तथा भविष्य में होनेवाले सभी महापुरुष भी इसीप्रकार मोक्ष प्राप्त करेंगे। उन पुरुषों में तीर्थंकर तो स्वयंबुद्ध हुये। स्वयंबुद्ध का अर्थ यह है कि जिन्होंने पूर्व पर्याय में तो देशनालब्धि प्राप्त की थी; परन्तु वर्तमान पर्याय में गुरु का निमित्त नहीं था। पहले सच्चे गुरु से धर्म की बात सुनी थी; परन्तु वहाँ धर्म नहीं प्राप्त किया तथा अगली पर्याय में गुरु के निमित्त बिना ही पहले के संस्कार याद करके सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्राप्त किया।

इसप्रकार धर्म प्राप्त करने को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा गुरु की उपस्थिति में धर्म प्राप्त करने को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।[१]

यहाँ पुराण पुरुषों के तीन प्रकार बताए गए हैं १. स्वयंबुद्ध तीर्थंकर २. स्वयंबुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि ३. जिन्होंने गुरु के समझाने से मोक्ष प्राप्त किया। - ऐसे तीन प्रकार के पुराण पुरुष सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ होकर, परम आवश्यक रूप आत्मा की आराधना के प्रसाद से केवली - सकल प्रत्यक्षज्ञानधारी हुए हैं। यहाँ मुनिराज की मुख्यता से कथन है; अतः सातवें गुणस्थान से बात की है। तथा चौथा-पाँचवाँ गुणस्थान भी आत्मा के अवलंबन से ही प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन, श्रावकपना, मुनिपना, श्रेणी चढ़ने, वीतरागता प्रगट होने और केवलज्ञान प्रगट करने का कारण शुद्ध द्रव्य ही है तथा शुद्ध द्रव्य के अवलंबन से प्रगट होनेवाली निर्विकारी क्रिया, निश्चय आवश्यक क्रिया है। किसी भी प्रकार का राग, निमित्त, संहनन इत्यादि केवलज्ञान का कारण नहीं है। मुनिराज पुण्य-पाप के वश न होकर तथा स्व के वश होकर, निर्मल क्रिया के द्वारा विकल्पों का अभाव करके सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं तथा निज द्रव्य के ही अवलम्बन

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३१३

से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।[1]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मुक्ति प्राप्त करने का एक ही उपाय है।

आजतक भूतकाल में जितने भी पौराणिक महापुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है, वर्तमान में विदेहादि क्षेत्र से जो निकट भव्य जीव मुक्ति प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में भी जो जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे; वे सभी निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परमावश्यक प्राप्त करके मुक्ति की प्राप्ति करेंगे। कहा भी है कि 'एक होय त्रयकाल में परमारथ को पंथ'।।१५८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं, जिसमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वात्माराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
स स्यात् सर्वजनार्चितांघ्रिकमलः पापाटवीपावकः।।२७०।।

(ताटंक या वीर)

अरे पुराण पुरुष योगीजन निज आतम आराधन से।
सभी करमरूपी राक्षस के पूरी तरह विराधन से।।
विष्णु-जिष्णु हुए उन्हीं को जो मुमुक्षु पूरे मन से।
नित्य नमन करते वे मुनिजन अघ अटवी को पावक हैं।।२७०।।

पुरातन काल में हुए सभी पुराणपुरुष योगीजन, निज आत्मा की आराधना से, समस्त कर्मरूपी राक्षसों के समुदाय का नाश करके, विष्णु अर्थात् व्यापक सर्वव्यापी ज्ञानवाले और जिष्णु अर्थात् जीतनेवाले जयवन्त हुए हैं; उनको मुक्ति की स्पृहावाला जगत से निष्प्रह जो जीव अनन्य मन से नित्य नमन करता है; वह जीव पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान है और उसके चरण कमलों की पूजा सर्वजन करते हैं।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३१४-१३१५

इस छन्द में यह कहा गया है कि भूतकाल में जिन पुराणपुरुषों ने अपने भगवान आत्मा की आराधना करके कर्मों का नाश किया है, अनंतज्ञान और अनंतसुख प्राप्त किया है; वे सभी सम्पूर्ण लोक को जानने के कारण सर्वव्यापी विष्णु और कर्मों को जीतने के कारण जिष्णु अर्थात् जयवंत हुए हैं; उन्हें मुमुक्षु जीव नित्य नमन करते हैं। ऐसे जीव पापरूपी भयंकर जंगल को जलानेवाले हैं, पापभावों से रहित हैं।।२७०।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यबोधम्।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय।।२७१।।

(ताटंक या वीर)

कनक-कामिनी गोचर एवं हेयरूप यह मोह छली।
इसे छोड़कर निर्मल सुख के लिए परम पावन गुरु से।।
धर्म प्राप्त करके हे आत्मन् निरुपम निर्मल गुणधारी।
दिव्यज्ञान वाले आतम में तू प्रवेश कर सत्वर ही।।२७१।।

हे चित्त ! तू हेयरूप कनक-कामिनी संबंधी मोह को छोड़कर, निर्मल सुख के लिए परमगुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके अव्यग्ररूप निरुपम गुणों से अलंकृत नित्य आनन्द और दिव्यज्ञानवाले, परमात्मा (अपने आत्मा) में शीघ्र प्रवेश कर।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

"गुरु शिष्य से कहते हैं कि तुम शान्तस्वरूपी, नित्य आनन्दमय, निरुपम गुणों से युक्त और दिव्यज्ञानवाले परमात्मा में शीघ्र प्रवेश करो। यहीं टीकाकार मुनिराज स्वयं स्वयं को संबोधित करते हैं। वास्तव में स्वयं का आत्मा ही परम आत्मा है; वही शान्तस्वरूपी है। शरीरादि अजीव हैं, पर हैं, पुण्य-पाप के भाव आकुलतास्वरूप हैं। संवर-

निर्जरा और मोक्ष एक समय की पर्याय हैं, वे परम आत्मा नहीं हैं। पुण्य-पाप से रहित तथा एक समय की पर्याय से भी रहित त्रिकाली ध्रुव आत्मा परमात्मा कहलाता है। यह अपना आत्मा नित्य आनन्दवाला है, सत्, चित् और आनन्द की मूर्ति है, शांत स्वभाववाला है, सदा एकरूपस्वभाववाला है - ऐसे आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन और वीतरागता प्रगट होती है।[1]

यहाँ टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि अनन्त जीवों ने शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही केवलज्ञान प्राप्त किया है; अतः तू भी वैसा ही कर। निज आत्मा में शीघ्र प्रवेश कर।[2]''

निश्चय परम आवश्यक अधिकार के उपसंहार के इस छन्द में टीकाकार मुनिराज स्वयं अपने चित्त (मन) से यह कह रहे हैं कि हे चित्त ! तू हेयरूप स्त्री-पुत्रादि एवं धन-धान्यादि, सुवर्णादि परिग्रह के मोह को छोड़कर, आत्मिक सुख के लिए परम गुरु अरहंतदेव से प्राप्त धर्म को प्राप्त करके सर्व प्रकार की आकुलता से रहित अव्यग्र, अनुपम गुणों से अलंकृत, नित्यानन्द और दिव्य ज्ञानवाले अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में प्रवेश कर, अपने आत्मा का ध्यान कर, उसमें ही रम जा, जम जा; यहाँ-वहाँ क्यों भटकता है ? अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति तो अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान से ही होनेवाली है; किसी अन्य के आत्मा से नहीं।

अत: हे मुनिवरो ! तुम एकमात्र अपने आत्मा का ध्यान करो, उसमें ही जमे रहो, रमे रहो, उसमें समा जावो। अनन्त सुख प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२७१।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय परमावश्यकाधिकार नामक ग्यारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३३० २. वही, पृष्ठ १३३१

१२

शुद्धोपयोगाधिकार

(गाथा १५९ से गाथा १८७ तक)

नियमसार गाथा १५९

नियमसार परमागम में शुद्धोपयोगाधिकार का आरंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न

''अब समस्त कर्मों के प्रलय करने के हेतुभूत शुद्धोपयोग अधिकार कहा जाता है।''

शुद्धोपयोग अधिकार की तात्पर्यवृत्ति टीका की प्रथम पंक्ति में ही टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव घोषणा करते हैं कि 'यह शुद्धोपयोग समस्त कर्मों का नाश करनेवाला है।'

अत: जिन्हें कर्मों से मुक्त होना हो, वे इस शुद्धोपयोग अधिकार की विषयवस्तु को गहराई से समझें।

नियमसार परमागम की १५९वीं एवं शुद्धोपयोग अधिकार की पहली गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।१५९।।

(हरिगीत)

निज आतमा को देखें-जानें केवली परमार्थ से।
पर जानते हैं देखते हैं सभी को व्यवहार से।।१५९।।

व्यवहारनय से केवली भगवान सभी पदार्थों को देखते-जानते हैं। निश्चयनय से केवली भगवान आत्मा को अर्थात् स्वयं को ही देखते-जानते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है।

व्यवहारनय से, परमभट्टारक परमेश्वर भगवान; आत्मगुण के घातक घातिकर्मों के नाश से प्राप्त सम्पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा, त्रिलोक में रहनेवाले त्रिकालवर्ती सचराचर सभी द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते-देखते हैं; क्योंकि '**पराश्रितो व्यवहार:** ह्न व्यवहारनय पराश्रित होता है' ह्न ऐसा आगम का वचन है।

शुद्धनिश्चय से, महादेवादिदेव सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के मूलध्यान में; परद्रव्य के ग्राहकत्व-दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्प रूप सेना की उत्पत्ति का अभाव होने से; वे भगवान त्रिकाल निरुपाधि, अमर्यादित नित्य शुद्ध ह्न ऐसे सहज ज्ञान और सहज दर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को; स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी देखते-जानते हैं।

क्या करके या किसप्रकार ?

ज्ञान का धर्म तो दीपक के समान स्व-परप्रकाशक है। जिसप्रकार घटादि की प्रमिति से, प्रकाश अर्थात् दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से स्व और पर को प्रकाशित करता है; उसीप्रकार आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से, व्यवहार से तीन लोक में रहनेवाले सभी परपदार्थों को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को, स्वयं को प्रकाशित करता है; जानता-देखता है।''

उक्त कथन का सार यह है कि व्यवहारनय से केवली भगवान पर-पदार्थों को जानते-देखते हैं और निश्चयनय से स्वयं के आत्मा को जानते-देखते हैं। इसप्रकार वे केवली भगवान दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक हैं; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है।

जिसप्रकार दीपक स्वयं को तो प्रकाशित करता ही है, घट-पटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है; उसीप्रकार यह ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं को जानता ही है, पर को भी जानता है। इसप्रकार यह आत्मा स्व-पर प्रकाशक है।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारि देव '**६९ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करनेवाले, विशालकीर्ति के धनी**

महासेन पण्डितदेव ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर टीका के बीच में ही एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

यथावद्वस्तुनिर्णीति: सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमिते: पृथक् ।।७३।।[१]

(हरिगीत)

वस्तु के सत्यार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञान है।
स्व-पर अर्थों का प्रकाशक वह प्रदीप समान है।।
वह निर्णयात्मक ज्ञान प्रमिति से कथंचित् भिन्न है।
पर आतमा से ज्ञानगुण से तो अखण्ड अभिन्न है।।७३।।

वस्तु का यथार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान दीपक की भाँति स्व और अर्थ अर्थात् परपदार्थों के व्यवसायात्मक (निर्णयात्मक) है तथा प्रमिति से कथंचित् भिन्न है।

ध्यान रहे उक्त छन्द में लेखक आत्मद्रव्य और ज्ञान-दर्शन गुणों के स्थान पर **सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय को स्व-पर प्रकाशक बता रहे हैं।।७३।।**

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस छन्द के उपरान्त टीका के शेष भाग को प्रस्तुत करते हैं; जिसका भाव इसप्रकार है ह्न

''सतत निर्विकार निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयनय के पक्ष से भी स्वपरप्रकाशकपना है ही; क्योंकि '**स्वाश्रितो निश्चय: ह्न** निश्चयनय स्वाश्रित होता है' ह्न ऐसा आगम का वचन है।

यद्यपि वह सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भिन्न संज्ञा (नाम), भिन्न लक्षण से जाना जाता है; तथापि वस्तुवृत्ति से अर्थात् अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से भिन्न नहीं है।

इसकारण से वह सहजज्ञान आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, ज्ञान, सुख और चारित्र आदि को जानता है तथा स्वात्मा अर्थात् कारणपरमात्मा के स्वरूप को भी जानता है।''

टीका के इस अंश में टीकाकार मुनिराज **सहज ज्ञान अर्थात् ज्ञान**

१. महासेनदेव पण्डित द्वारा रचित श्लोक, ग्रंथ संख्या एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

गुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय को निश्चयनय से स्व-पर प्रकाशक सिद्ध कर रहे हैं। वे कहते हैं कि **ज्ञान स्वयं को जानता है ह्न यह उसका स्वप्रकाशकपना हुआ और ज्ञान से भिन्न सुख, श्रद्धा, चारित्रादि अपने गुणों और उनकी पर्यायों को जानता है ह्न यह उसका परप्रकाशकपना हुआ।** इसप्रकार वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर निश्चय से भी स्व-पर प्रकाशक सिद्ध होता है।

इस गाथा और इसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भगवान लोकालोक को जानते हैं अर्थात् वे लोकालोक के प्रदेशों में तन्मय हुए बिना ही सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हैं; इसलिये व्यवहार कहा है, परन्तु इससे भगवान का ज्ञान अभूतार्थ है अथवा संदेहात्मक है - ऐसा अर्थ नहीं निकलता तथा कोई कहे कि भगवान की महिमा बताने के लिये लोकालोक जानते हैं - ऐसा कहा है तो यह बात भी गलत है। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय का स्वरूप बताता है कि केवली पर में तन्मय हुए बिना समस्त पदार्थों को यथार्थतया जानते हैं तथा वह केवलज्ञान और प्रमिति कथंचित् भिन्न है।[१]

केवलज्ञान पर को व्यवहार से जानता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे पर का निर्णयात्मकज्ञान नहीं है; बल्कि वह पर को तन्मय होकर नहीं जानता है; अतः व्यवहार से जानता है - ऐसा कहा जाता है।[२]

वस्तुतः परमात्मा स्व में लीन हैं; पर को जानने पर भी पर में लीन नहीं होते हैं। स्व की लीनता में ही अन्यगुणों का भी ज्ञान हो जाता है; अतः उनके निश्चय से भी स्व-परप्रकाशकपना है। वे व्यवहार से अपनी आत्मा तथा लोकालोक को जानने से स्व-परप्रकाशी हैं तथा निश्चय से ज्ञान एवं उससे भिन्न अन्य अनन्त गुणों को जानने से स्व-परप्रकाशी हैं।[३]

सहज जानना आत्मा का स्वभाव है। कोई कहता है कि जानना तो उपाधि है, तो यह बात गलत है; क्योंकि उपाधि परकृत होती है,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३४६ २. वही, पृष्ठ १३४७ ३. वही, पृष्ठ १३४८

जबकि जानना स्वयंभूत है, परकृत नहीं। आत्मा स्व को जानते हुए भी पर को स्पष्ट जान लेता है - यही उसका स्वभाव है।

सहजज्ञान के लिए ज्ञान ही स्व है और उससे भिन्न अन्यगुण पर हैं। वे परस्पर लक्षणादि की अपेक्षा भिन्न हैं; परन्तु प्रदेश (क्षेत्र) की अपेक्षा भिन्न नहीं हैं। अतः ज्ञान (केवलज्ञान) निश्चय से भी स्व-परप्रकाशी सिद्ध होता है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि गाथा, टीका और टीका में समागत छन्द तथा आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विवेचन से एक बात पूर्णत: स्पष्ट हो रही है कि केवली भगवान का पर को जानना असत्यार्थ नहीं है; उनके **पर को जानने को व्यवहार तो मात्र इसलिए कहा जाता है कि वे पर को तन्मय होकर नहीं जानते, वे उसमें लीन नहीं होते, उनका उनमें अपनापन नहीं है।**

वस्तुत: तन्मय होकर जानने का अर्थ उनमें अपनेपन पूर्वक जानना होता है। केवली भगवान का या किसी भी ज्ञानी धर्मात्मा का परपदार्थों में अपनापन नहीं होता; न तो वे उसे अपना जानते हैं, न अपना मानते हैं और न उनमें लीन होते हैं; मात्र जानते हैं। उनके इस स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए लगभग सर्वत्र ही यह कहा गया है कि वे परपदार्थों को तन्मय होकर नहीं जानते। उनके पर को जानने को व्यवहार तो मात्र इसीलिए कहा गया है। वे उन्हें जानते ही नहीं हैं ह्न ऐसा अभिप्राय उनका कदापि नहीं है।

निश्चय से स्व-पर प्रकाशक की बात आतमद्रव्य की अपेक्षा ज्ञान गुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय पर भली प्रकार घटित होता है; क्योंकि सुखादि गुण और उनकी पर्यायें ज्ञानगुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय से कथंचित् भिन्न हैं, पर आत्मा से नहीं; क्योंकि आत्मा में तो सभी स्व के रूप में ही समाहित हैं।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जब ज्ञान व्यवहारनय से सभी को जानता है तो उसमें पर के साथ स्व भी आ जाता है। अत: वह

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३४९

व्यवहार से भी स्व-पर प्रकाशक है। इसप्रकार **ज्ञान निश्चय और व्यवहार ह्न दोनों से ही स्व-पर प्रकाशक है; प्रमाण से तो स्व-पर प्रकाशक है ही।।१५९।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोत्यन्तगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि।।७४।।[१]

(रोला)

बंध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखंड यह ज्ञानदिवाकर।।७४।।

नित्य उद्योतवाली सहज अवस्था से स्फुरायमान, सम्पूर्णत: शुद्ध और एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त धीर-गंभीर पूर्णज्ञान कर्मबंध के छेद से अतुल अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ सहज ही प्रकाशित हो उठा और स्वयं की अचल महिमा में लीन हो गया।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो ऐसे केवलज्ञान को नहीं जानता है तथा उसका निर्णय नहीं करता है, उसे सच्चे देव की खबर नहीं है। जो ऐसे केवलज्ञान का असत्य निरूपण करता है, वह तीव्र मिथ्यात्व का सेवन करता है। **देव का निर्णय करने के लिए केवलज्ञान के स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है।**

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १९२

स्व-परप्रकाशक एवं निर्णयात्मक केवलज्ञान की यहाँ चर्चा चलती है। वह शुद्धोपयोग स्वरूप केवलज्ञान व्यवहार से लोकालोक को जानता है। पर को जानने पर भी ज्ञान पररूप नहीं होता है; अतः पर को व्यवहार से जानता है और निश्चय से अपनी आत्मा को जानता है।

ज्ञान स्व को जानता है, यह उसकी स्वप्रकाशकता है तथा ज्ञान के अलावा अन्य गुणों को जानना उसकी परप्रकाशकता है।[१]

ज्ञान और दर्शन दोनों एक ही समय में पर को उसमें तन्मय हुए बिना जानते, देखते हैं; अतः उनका जानना-देखना व्यवहार कहलाता है।[२]''

इसप्रकार इस कलश में उस सम्यग्ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है कि जो स्वयं में समाकर, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का आश्रय कर, केवलज्ञानरूप परिणमित हो गई है। ज्ञानज्योति का केवलज्ञानरूप परिणमित हो जाना ही मोक्ष है।।७४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति।।२७२।।

(हरिगीत)

सौभाग्यशोभा कामपीड़ा शिवश्री के वदन की।
बढ़ावें जो केवली वे जानते सम्पूर्ण जग।।
व्यवहार से परमार्थ से मलक्लेश विरहित केवली।
देवाधिदेव जिनेश केवल स्वात्मा को जानते।।२७२।।

व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति आत्मा सम्पूर्ण विश्व को वस्तुत: जानता है तथा मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुख कमल पर कामपीड़ा और सौभाग्यचिह्नवाली शोभा को फैलाता है। निश्चयनय

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३५१ २. वही, पृष्ठ १३५१

से मल और क्लेश से रहित वे देवाधिदेव जिनेश निजस्वरूप अपने भगवान आत्मा को अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा में जो शक्तिरूप से ज्ञान था, वही पूर्णतः व्यक्त हुआ है। ह्न ऐसा कहकर आचार्यदेव भगवान की पहचान कराते हैं, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बताते हैं। ऐसा जानने पर भी आत्मा की मुक्ति न हो – ऐसा नहीं बनता है।

एक केवली से दूसरे केवली भिन्न हैं, एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध भिन्न हैं, उन सबको केवलज्ञान जानता है; परन्तु ज्ञान उनरूप नहीं होता; अतः व्यवहार कहा है। व्यवहारनय से कहा है; अतः पर को नहीं जानता – ऐसा नहीं है; परन्तु वास्तव में पर को जानता है।

मन, वाणी से पार आत्मा में लीन होने से प्रगट होने वाला पूर्णज्ञान निरन्तर लोकालोक को जानता है।[१]

केवली भगवान मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी से सुशोभित हो रहे हैं। वे पूर्णज्ञान में आनन्द और शान्ति का अनुभव करते हैं। वह परिणतिरूपी स्त्री भगवान से कभी भिन्न नहीं होती है। जिसप्रकार संसार में जो स्त्री विधवा नहीं है, वह सौभाग्यवती कहलाती है; उसीप्रकार आत्मा की जो परिणति पूर्णदशारूप हुई, वह सौभाग्यवती है; क्योंकि उसका विरह नहीं होता है अर्थात् प्रगट होने पर ऐसी की ऐसी ही रहती है।

निचली दशा में तो उसका छूटना संभव है अर्थात् परिणति में विरह हो सकता है; परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन अनन्त काल रहता है। यह सौभाग्य कभी समाप्त नहीं होता है। यह केवलज्ञान का स्वरूप है।[२]''

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि केवली भगवान निश्चय से निज भगवान आत्मा को और व्यवहार से लोकालोक को जानते हैं। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३५२-१३५३
२. वही, पृष्ठ १३५३-१३५४

नियमसार गाथा १६०

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान निश्चयनय से स्वयं के आत्मा को देखते-जानते हैं और व्यवहारनय से लोकालोक को देखते-जानते हैं और अब इस गाथा में सोदाहरण यह बताते हैं कि केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ।।१६०।।

(हरिगीत)

ज्यों ताप और प्रकाश रवि में एकसाथ रहें सदा।
त्यों केवली के ज्ञान-दर्शन एकसाथ रहें सदा।।१६०।।

जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश और ताप एक साथ वर्तते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तते हैं ह्न ऐसा जानना चाहिए।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ वस्तुतः केवलज्ञान और केवलदर्शन के एक साथ होने को दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है। दृष्टान्त पक्ष में जब बादलों की बाधा न हो, तब आकाश में स्थित सूर्य में जिसप्रकार प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं; उसीप्रकार तीर्थाधिनाथ परमेश्वर भगवान को तीन लोकवर्ती और तीन कालवर्ती स्थावर-जंगम द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक ज्ञेयों में पूर्णतः निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन एक साथ वर्तते हैं।

दूसरी बात यह है कि संसारी जीवों के ज्ञान, दर्शन पूर्वक ही होता है। पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

'' 'किसी समय' कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार बादलों

के होने पर ताप और प्रकाश दोनों एक साथ नहीं दिखते; उसीप्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान में दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। तथा जिसप्रकार बादल न रहने पर वे दोनों एक साथ होते हैं, उनके होने में अन्तर नहीं होता; उसीप्रकार जब आत्मा में क्षायिक ज्ञान-दर्शन होते हैं, तब ज्ञान-दर्शन ह्न दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।[१]

जिसप्रकार सूर्य का प्रकाश और ताप एक समय में एक साथ होते हैं; उसीप्रकार भगवान के ज्ञान-दर्शन का उपयोग एक समय में एक साथ होता है।

केवली के दर्शनोपयोग के समय ज्ञानोपयोग नहीं होता और ज्ञानोपयोग के समय दर्शनोपयोग नहीं होता – यदि ऐसा माना जाय तो केवली में ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की सत्ता सिद्ध होती है; परन्तु केवली में वे कर्म नहीं हैं।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि क्षायिकज्ञानवालों के दर्शन और ज्ञान स्व-पर पदार्थों को एक साथ देखते-जानते हैं; पर क्षायोपशमिकज्ञानवाले जीव जब किसी पदार्थ को देखते-जानते हैं तो देखना (दर्शन) पहले होता है, उसके बाद जानना (ज्ञान) होता है। **तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिकज्ञानवालों के देखना-जानना क्रमशः होता है और क्षायिकज्ञानवालों में देखना-जानना एक साथ होता है ।।१६०।।**

इसके बाद '**तथा चोक्तं प्रवचनसारे** ह्न तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है' ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ।।७५।।[३]

(हरिगीत)

अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है।
हैं नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं।।७५।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३५६ २. वही, पृष्ठ १३५८ ३. प्रवचनसार, गाथा ६१

केवलज्ञानी का ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है, दर्शन लोकालोक में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो इष्ट हैं, वे सब प्राप्त हो गये हैं; इसकारण केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।

इस गाथा में यह कहा गया है कि **केवली भगवान के सर्व अनिष्ट नष्ट हो गये हैं और लोकालोक को एक साथ जानने-देखने की सामर्थ्य प्रगट हो गई है; इसकारण वे पूर्ण सुखी हैं, अनन्त सुखी हैं ।।७५।।**

इसके बाद '**अन्यच्च** ह्न अन्य भी देखिये' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओग्गा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ।।७६।।[१]

(हरिगीत)

जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक।
पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये ।।७६।।

छद्मस्थों (क्षायोपशमिकज्ञानवालों) के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है; क्योंकि उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन ह्न दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

इस गाथा में भी मात्र इतना ही कहा गया है कि क्षायोपशमिकज्ञान वालों के ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है और क्षायिकज्ञानवाले केवली भगवान को दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं ।।७६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथाहि**' लिखकर चार छन्द स्वयं लिखते हैं; उनमें से प्रथम छन्द इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

वर्तेते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे ।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोमके ते तथैवम् ।।२७३।।

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४

(हरिगीत)

अज्ञानतम को सूर्यसम सम्पूर्ण जग के अधिपति।
हे शान्तिसागर वीतरागी अनूपम सर्वज्ञ जिन॥
संताप और प्रकाश युगपत् सूर्य में हों जिसतरह।
केवली के ज्ञान-दर्शन साथ हों बस उसतरह॥२७३॥

सम्पूर्ण जगत के एक नाथ, धर्मतीर्थ के नायक, अनुपम सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान और दर्शन चारों ओर से निरंतर एक साथ वर्तते हैं। अन्धकार समूह के नाशक, तेज की राशिरूप सूर्य में जिसप्रकार उष्णता और प्रकाश एक साथ वर्तते हैं और जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् जगत जीव प्रकाश हो जाने से देखने लगते हैं; उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीव भी वस्तुस्वरूप देखने-जानने लगते हैं।

यहाँ एक साथ देखने-जानने के स्वभाव के उल्लेखपूर्वक सर्वज्ञ भगवान की महिमा के गीत गाये गये हैं। उन्हें तीन लोक के नाथ, धर्मतीर्थ के नेता और अज्ञानान्धकार के नाशक बताया गया है॥२७३॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

सद्बोधपोतमधिरुह्य भवाम्बुराशि-
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता।
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम्॥२७४॥

(हरिगीत)

सद्बोधरूपी नाव से ज्यों भवोदधि को पारकर।
शीघ्रता से शिवपुरी में आप पहुँचे नाथवर॥
मैं आ रहा हूँ उसी पथ से मुक्त होने के लिए।
अन्य कोई शरण जग में दिखाई देता नहीं॥२७४॥

हे जिननाथ सम्यग्ज्ञानरूपी नाव में सवार होकर आप भवसमुद्र को पारकर शीघ्रता से मुक्तिपुरी में पहुँच गये हैं। अब मैं भी आपके इसी

मार्ग से उक्त मुक्तिपुरी में आता हूँ; क्योंकि इस लोक में उत्तम पुरुषों को उक्त मार्ग के अतिरिक्त और कौन शरण है ?

तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इस छंद का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ मुनिराज कहते हैं कि हे नाथ! तुम तो मोक्ष चले गये और हमें अभी भी विकल्प वर्तता है।[1]

हे जिननाथ! अभी मैं उस मार्ग पर हूँ, जिसमार्ग से आप शाश्वतपुरी गये हो। मैं इसलिये इस मार्ग पर हूँ; क्योंकि इस लोक में उत्तमपुरुषों के लिये इस मार्ग के अलावा अन्य कोई शरण नीं है। वे आगे कहते हैं कि मैं संसार में नहीं रहूँगा तथा मोक्ष के लिये अन्य से पूछने की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि नित्य ध्रुवपदार्थ के अवलम्बन से प्रगट होनेवाले शुद्धदशारूपमार्ग से ही भगवान शाश्वतपुरी को प्राप्त हुये हैं तथा मैं वहाँ जा रहा हूँ। मैं एक-दो भव बाद ही मुक्ति को प्राप्त करूँगा – इसमें कोई संदेह नहीं है अर्थात् मार्ग प्रगट हो जाने पर पूर्णता प्रगट हुये बिना नहीं रहती।

आत्मा को सर्वज्ञकथित मार्ग के अलावा अन्य कोई शरण नहीं है। आत्मा परिपूर्ण प्रभु है, उसके अवलम्बन से पूर्णदशा एवं स्वभाव की एकता होने के बाद समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसे समझे बिना अनेक प्रकार की क्रिया करने से धर्म नहीं होता है।[2]''

इस छन्द में जिननाथ की स्तुति करते हुए कहा गया है कि **जिस मार्ग पर चलकर आपने शाश्वत शिवपुरी प्राप्त की है; अब मैं भी उसी मार्ग से शिवपुरी में आ रहा हूँ; क्योंकि इसके अलावा कोई मार्ग ही नहीं है।** उक्त छन्द में लेखक का आत्मविश्वास झलकता है। उन्हें पक्का भरोसा है कि जिनेन्द्र भगवान जिस मार्ग पर चलकर मुक्त हुए हैं; वे भी दृढ़तापूर्वक उसी मार्ग पर चल रहे हैं॥२७४॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३६८ २. वही, पृष्ठ १३६८-१३६९

(मंदाक्रांता)

एको देव: स जयति जिन: केवलज्ञानभानु:
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव कांचित् ।
मुक्तेस्तस्या: समरसमयानंगसौख्यप्रदाया:
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमे: प्रियाया: ।।२७५।।

(हरिगीत)

आप केवलभानु जिन इस जगत में जयवंत हैं।
समरसमयी निर्देह सुखदा शिवप्रिया के कंत हैं।।
रे शिवप्रिया के मुखकमल पर कांति फैलाते सदा।
सुख नहीं दे निजप्रिया को है कौन ऐसा जगत में ।।२७५।।

केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले एक जिनदेव ही जयवन्त हैं। वे जिनदेव समरसमय अशरीरी सुख देनेवाली मुक्तिरूपी प्रिया के मुखकमल पर अवर्णनीय कान्ति फैलाते हैं; जगत में स्नेहमयी अपनी प्रिया को निरन्तर सुखोत्पत्ति का कारण कौन नहीं होता ?

जिसप्रकार जगत के मोही जीव स्वयं की प्रिय प्रिया को प्रसन्न रखते हैं; उसीप्रकार हे प्रभो ! आप भी समतारसमय अशरीरी सुख देनेवाली अपनी मुक्ति प्रिया के मुखकमल पर अवर्णनीय कांति फैलाते हैं, उसे सब प्रकार अनुकूलता प्रदान करते हैं।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''जो पूर्णपर्याय प्रगट हुई है, उसमें मुनिराज स्त्री का उपचार करते हैं। केवली भगवान अपनी पर्याय की शोभा फैला रहे हैं। रागीपुरुष जगत की स्त्री के लिए शोभा फैलाते हैं; परन्तु वे वास्तव में ऐसा स्त्री की शोभा के लिये नहीं करते; बल्कि अपने राग के लिये करते हैं। केवलज्ञानी अपनी पर्याय की शोभा अपने आनन्द के लिये फैलाते हैं। सर्वज्ञ भगवान को अपनी पूर्णशुद्धपर्याय से प्रेम है। वे उसका वियोग नहीं होने देते। निरन्तर उसे सेवते हैं। ऐसी द्रव्य और पर्याय की एकता हो गयी है।[१]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३६९-१३७०

इसप्रकार इस छन्द में लौकिक पति-पत्नी के उदाहरण के माध्यम से जिनेन्द्र भगवान और मुक्ति प्रिया के अलौकिक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।।२७५।।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्र

(अनुष्टुभ्)

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्या: मुखपद्मे जगाम स: ।
अलिलीलां पुन: काममनङ्गसुखमद्वयम् ।।२७६।।

(दोहा)

अरे भ्रमर की भांति तुम, शिवकामिनि लवलीन।
अद्वितीय आत्मीक सुख, पाया जिन अमलीन ।।२७६।।

हे जिनेन्द्र ! आप मुक्तिरूपी कामिनी के मुखकमल पर भ्रमर की भांति लीन हो गये हो और आपने अद्वितीय आत्मिक सुख प्राप्त किया है।

तात्पर्य यह है कि **जिसप्रकार भ्रमर कमल पुष्पों पर आकर्षित होकर लीन हो जाते हैं; उसीप्रकार हे जिनेन्द्र भगवान आप भी अपने आत्मा में लीन हैं और आत्मानन्द ले रहे हैं।।**

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्र

''भगवान ने द्रव्यस्वभाव में अपनी पर्याय को लीन कर दिया है। वे केवलज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य आदि में विराज रहे हैं। उन्होंने ऐसा अभेद अद्वितीय सुख प्राप्त किया है, जो संसार में नहीं मिलता। यहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन को पहिचानकर उनके गीत गाये हैं। जिसप्रकार भ्रमर कमल में लीन हो जाता है; उसीप्रकार भगवान अपने स्वभाव में लीन हो गये हैं, अनन्तसुख-आनन्द में डूब गये हैं।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान की आत्मलीनता का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।।२७६।।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त चारों छन्दों में टीकाकार मुनिराज विविध प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते दृष्टिगोचर होते हैं।

अध्यात्म और भक्ति का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र असंभव नहीं तो दुर्लभ तो है ही। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३७०

नियमसार गाथा १६१

विगत गाथा में यह कहा था कि केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि यदि कोई ऐसा माने कि ज्ञान सर्वथा परप्रकाशक ही है और दर्शन स्वप्रकाशक तो उसका यह कथन सत्य नहीं है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि।।१६१।।

(हरिगीत)

परप्रकाशक ज्ञान दर्शन स्वप्रकाशक इसतरह।
स्वपरप्रकाशक आत्मा है मानते हो तुम यदि।।१६१।।

ज्ञान परप्रकाशक ही है और दर्शन स्वप्रकाशक ही है तथा आत्मा स्व-परप्रकाशक है ह्न ऐसा यदि तू वास्तव में मानता है तो उसमें विरोध आता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह आत्मा के स्व-परप्रकाशन संबंधी विरोध का कथन है।

प्रथम तो आत्मा का स्व-परप्रकाशनपना किसप्रकार है ? ह्न यदि कोई ऐसा कहे तो उस पर विचार किया जाता है।

'आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणों से समृद्ध है। उसका ज्ञानगुण शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से केवल परप्रकाशक ही है। इसीप्रकार निरंकुश दर्शन भी केवल अभ्यन्तर में आत्मा को प्रकाशित करता है अर्थात् स्वप्रकाशक ही है। इस विधि से आत्मा स्वपरप्रकाशक है।' ह्न इसप्रकार हे जड़मति प्राथमिक शिष्य ! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव से इसप्रकार मानता हो, तो वस्तुत: तुझ से अधिक जड़, मूर्ख अन्य कोई पुरुष नहीं है।

इसलिए अविरुद्ध स्याद्वादविद्यारूपी देवी की सत्पुरुषों द्वारा निरन्तर भली प्रकार आराधना करने योग्य है।

स्याद्वाद मत में ज्ञान को एकान्त परप्रकाशकपना नहीं है। इसीप्रकार स्याद्वाद मत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता।

आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों का आधार है।

व्यवहार पक्ष से भी ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो; सदा बाह्य स्थितिपने के कारण ज्ञान का आत्मा के साथ संबंध ही नहीं रहेगा; इसलिए आत्मज्ञान के अभाव के कारण सर्वगतपना भी नहीं बनेगा। इसकारण ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहेगा; मृगतृष्णा के जल की भाँति आभासमात्र ही होगा।

इसीप्रकार दर्शनपक्ष से भी दर्शन केवल आभ्यन्तर प्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है, वह मात्र स्व को ही नहीं देखता; अपितु सबको देखता है; क्योंकि चक्षु सदा सबको देखती है, अपने भीतर स्थित कनीनिका[१] को नहीं देखती। इससे यह निश्चित होता है कि ज्ञान और दर्शन ह्न दोनों को ही स्वपरप्रकाशकपना अविरुद्ध ही है। इसप्रकार ज्ञानदर्शन लक्षणवाला आत्मा स्वपरप्रकाशक है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह आत्मा के स्वपरप्रकाशकपने के विरोध का कथन है। यदि भगवान आत्मा स्वपरप्रकाशक है, तो उसका एक गुण स्व को प्रकाशे और दूसरा गुण पर को प्रकाशे – ऐसा मानने में विरोध आता है।

गुणी से गुण भिन्न नहीं होते। आत्मा के गुण आत्मा की तरह स्वपरप्रकाशक हैं; अतः आत्मा को स्वपरप्रकाशक कहना और उसके गुणों में भेद करना तो विरोध है।[२]

आत्मा में पर्याय की पूर्ण अभेदता होकर उसकी एक पर्याय बाहर का काम करे और दूसरी पर्याय अन्तर का काम करे – ऐसा मानने पर

१. आँख की पुतली २. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३७३

आत्मा की अखण्डता नहीं रहती; अतः ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को ही देखता है – यह बात गलत है।[१]

निश्चय से आत्मा स्वयं स्वपरप्रकाशक है; अतः उसके गुण भी स्वपरप्रकाशक हैं – इस न्याय से ज्ञान और दर्शन दोनों गुण स्वपरप्रकाशक सिद्ध होते हैं।[२]

जिसप्रकार आत्मा को समझे बिना यह जीव पूजा-भक्ति, दान, व्रत, तप इत्यादि करे तो उनसे आत्मा को लाभ नहीं होता; उसीप्रकार अभेद आत्मा को जाने बिना अकेला गुणभेद का व्यवहार कुछ भी कार्यकारी नहीं है।[३]

ज्ञान और दर्शन दोनों को स्वपरप्रकाशक मानने में कोई विरोध नहीं है; अतः सिद्ध होता है कि ज्ञान-दर्शनरूपी स्वपरप्रकाशक गुणों का आधार होने से गुणी आत्मा भी स्वपर प्रकाशक ही है।[४]''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यह कहा गया है कि दर्शन स्वप्रकाशक है और ज्ञान परप्रकाशक है ह्न इसप्रकार दोनों को मिलाकर आत्मा स्वपरप्रकाशक है ह्न यह बात सही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है, दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ।।७७।।[५]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३७३-१३७४
२. वही, पृष्ठ १३७८
३. वही, पृष्ठ १३७८-१३७९
४. वही, पृष्ठ १३७९
५. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, छन्द ४

(मनहरण कवित्त)

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब।
अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा।।
भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब।
द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धातमा।।
मोह का अभाव पररूप परिणमें नहीं।
सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा।।
पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये।
सदा मुक्त रहें अरहंत परमातमा।।७७।।

जिसने कर्मों को छेद डाला है ह्न ऐसा यह आत्मा विश्व के समस्त पदार्थों को उनकी भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों के साथ ह्न सभी को एकसाथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता; इसलिए अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी डाला है समस्त ज्ञेयाकारों को जिसने ह्न ऐसा यह ज्ञानमूर्ति आत्मा तीनों लोकों के सभी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ कर्मबंधन से मुक्त ही रहता है।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि लोकालोक को सहज भाव से जाननेवाला यह ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण सबको सहजभाव से जानते हुए भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता।।७७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्गतं ज्ञेयजालम्।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ।।२७७।।

(मनहरण कवित्त)

ज्ञान इक सहज परमातमा को जानकर।
लोकालोक ज्ञेय के समूह को है जानता।
ज्ञान के समान दर्शन भी तो क्षायिक है।
वह भी स्वपर को है साक्षात् जानता।।
ज्ञान-दर्शन द्वारा भगवान आतमा।
स्वपर सभी ज्ञेयराशि को है जानता।।
ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ परमातमा।
स्वपरप्रकाशी निज भाव को प्रकाशता।।२७७।।

ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर लोकालोक संबंधी समस्त ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है, जानता है। नित्य शुद्ध क्षायिकदर्शन भी साक्षात् स्वपरविषयक है; वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है। यह भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन के द्वारा स्व-पर संबंधी ज्ञेयराशि को जानता है।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण में गाथा में, टीका में और टीका में उद्धृत किये गये छन्द में तथा टीकाकार द्वारा लिखे गये छन्द में ह्न सभी में इसी बात को तर्क और युक्ति से, पुष्ट प्रमाणों से यही सिद्ध किया गया है कि **ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, दर्शन स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपर-प्रकाशक है।** ●

कोई अज्ञानी जीव किसी अन्य जीव को वस्तुत: मार तो सकता नहीं, किन्तु मारने की बुद्धि करता है, तब उसकी वह बुद्धि तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है; उसीप्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नहीं सकता, किन्तु बचाने की बुद्धि करता है, तब उसकी यह बचाने की बुद्धि भी उससे कम मिथ्या नहीं है। मिथ्या होने में दोनों में समानता है। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, जो दोनों में समान रूप से विद्यमान है। तो भी बचाने का भाव पुण्य का कारण है और मारने का भाव पाप का कारण है। ये दोनों प्रकार के भाव भूमिकानुसार ज्ञानियों में भी पाए जाते हैं। यद्यपि उनकी श्रद्धा में वे हेय ही हैं, तथापि चारित्र की कमजोरी के कारण आए बिना भी नहीं रहते। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-२७**

नियमसार गाथा १६२

इस गाथा में विगत गाथा में प्रतिपादित बात को ही आगे बढ़ा रहे हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।।१६२।।

(हरिगीत)

पर का प्रकाशक ज्ञान तो दृग भिन्न होगा ज्ञान से।
पर को न देखे दर्श ह्न ऐसा कहा तुमने पूर्व में।।१६२।।

यदि ज्ञान परप्रकाशक ही हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा; क्योंकि दर्शन परप्रकाशक नहीं है, तेरी मान्यता संबंधी ऐसा वर्णन पूर्व सूत्र में किया गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह पूर्वसूत्र अर्थात् १६१वीं गाथा में कहे गये पूर्वपक्ष के सिद्धान्त संबंधी कथन है।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशन प्रधान ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा; क्योंकि सह्याचल और विन्ध्याचल के समान अथवा गंगा और श्रीपर्वत के समान परप्रकाशक ज्ञान और स्वप्रकाशक दर्शन का संबंध किसप्रकार होगा ?

यदि कोई ऐसा कहे तो कहते हैं कि जो आत्मनिष्ठ (स्वप्रकाशक) है, वह तो दर्शन ही है। उस दर्शन और ज्ञान को निराधार होने से अर्थात् आत्मरूपी आधार न होने से शून्यता की आपत्ति आ जावेगी अथवा जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा; अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान प्राप्त करेगा, ज्ञान जानेगा; वे-वे सभी द्रव्य चेतनता को प्राप्त होंगे। इसकारण तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा ह्न यह महान दोष आयेगा।

उक्त दोष के भय से हे शिष्य ! यदि तू ऐसा कहे कि ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं हैं तो दर्शन भी केवल आत्मगत नहीं है, स्वप्रकाशक नहीं है ह्न ऐसा भी कहा गया है। इसलिए वास्तविक समाधानरूप सिद्धान्त का हार्द यह है कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्वपरप्रकाशक पना ही है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार पर्वत बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार गुणों को भिन्न-भिन्न मानने पर वस्तु में विरोध आता है। दर्शनरूपी पर्वत रह जाये और ज्ञानरूपी गंगा बह जाये - इसप्रकार ज्ञान, दर्शन दोनों का मेल सिद्ध नहीं होता।

जो आत्मा में रहने वाला है, वह तो दर्शन ही है और ज्ञान के निराधारपने होने से शून्यता की आपत्ति आती है; क्योंकि दर्शन को आत्मा का आधार मिल गया; परन्तु ज्ञान को आधार नहीं मिला; इसलिये आत्मा से रहित ज्ञान असत्तारूप है - इसप्रकार विरोध आता है। अथवा आत्मा से ज्ञान निकलकर जिस-जिस द्रव्य को जानने जायेगा, वह द्रव्य भी चेतन हो जायेगा - इसप्रकार तीन लोक में किसी भी अचेतन पदार्थ के नहीं रहने रूप महादोष प्राप्त होगा।

ऊपर कहे गये दोष के भय से हे शिष्य! ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है, यदि तुम ऐसा कहते हो तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्व-प्रकाशक) नहीं है - इसके साथ ऐसा भी सिद्ध हो गया; क्योंकि दर्शन स्वप्रकाशक ही हो तो पर को नहीं देखने से वह अंधा हो जायेगा और ज्ञान अकेला पर को जाने तो सभी पदार्थ चेतन हो जावेंगे और आत्मा ज्ञान बिना अचेतन हो जायेगा; अतः वास्तव में सिद्धान्त के साररूप इसका यह समाधान है कि ज्ञान और दर्शन के कथंचित् स्वपरप्रकाशकपना ही है।

शुद्धपयोग अधिकार की पहली गाथा में कहा था कि ज्ञान और दर्शन के कथंचित् स्वपरप्रकाशकपना है - वही बात यहाँ सिद्ध की गयी है।[1]''

इस गाथा और उसकी टीका में ज्ञान, दर्शन और आत्मा ह्न तीनों को अनेक तर्क और युक्तियों से स्वपरप्रकाशक ही सिद्ध किया गया है ।।१६२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा श्री महासेन पण्डितदेव के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।।७८।।[2]

(कुण्डलिया)

अरे ज्ञान से आत्मा, नहीं सर्वथा भिन्न।
अर अभिन्न भी है नहीं, यह है भिन्नाभिन्न ।।
यह है भिन्नाभिन्न कथंचित् नहीं सर्वथा।
अरे कथंचित् भिन्न अभिन्न भी किसी अपेक्षा ।।
जैनधर्म में नहीं सर्वथा कुछ भी होता।
पूर्वापर जो ज्ञान आतमा वह ही होता ।।७८।।

आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है; कथंचित् भिन्नाभिन्न है; क्योंकि पूर्वापर ज्ञान ही आत्मा है ह्न ऐसा कहा है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है, कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। यदि सर्वथा भिन्न माना जाये तो आत्मा के अचेतनपना प्राप्त होगा और ज्ञान को आत्मा से सर्वथा अभिन्न माना जाये तो संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की भिन्नता नहीं रहती;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८२-१३८३
२. महासेन पण्डितदेव , ग्रंथ नाम और श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

अतः कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। किसी अपेक्षा से अभिन्न है और किसी अपेक्षा से भिन्न।

पूर्व-उत्तर भावी जो ज्ञान है, वह आत्मा है - ऐसा कहा है। जो पहले का ज्ञान और पीछे का ज्ञान होता है, वही आत्मा है अर्थात् ज्ञान में पहले-बाद का भेद पड़ता है; परन्तु आत्मा तो पूर्वोत्तरदशा में एक ही है, उसमें भेद नहीं पड़ता है; ज्ञान ही आत्मा है - इसप्रकार आत्मा भेद-अभेद रूप है।[1]''

उक्त छन्द में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान-दर्शन और आत्मा में कथंचित् भिन्नता है और कथंचित् अभिन्नता है। इसप्रकार वे प्रमाण से भिन्नाभिन्न हैं।।७८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथाहि**' लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्यां युक्त: स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम्।
संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्ट्योः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन बह्वायुष्णवत्सः।।२७८।।

(हरिगीत)

यह आतमा न ज्ञान है दर्शन नहीं है आतमा।
रे स्वपर जाननहार दर्शनज्ञानमय है आतमा।।
इस अघविनाशक आतमा अर ज्ञान-दर्शन में सदा।
भेद है नामादि से परमार्थ से अन्तर नहीं।।२७८।।

आत्मा ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार आत्मा दर्शन भी नहीं है। ज्ञान-दर्शन युक्त आत्मा स्व-परविषय को अवश्य जानता है और देखता है। अघ अर्थात् पुण्य-पाप समूह के नाशक आत्मा में और ज्ञान-दर्शन में संज्ञा (नाम) भेद से भेद उत्पन्न होता है; परमार्थ से अग्नि और उष्णता की भाँति आत्मा और ज्ञान-दर्शन में वास्तविक भेद नहीं है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८३

इस छन्द में यही कहा गया है कि यद्यपि दर्शन, ज्ञान और आत्मा में नामादि की अपेक्षा व्यवहार से भेद है; तथापि निश्चय से विचार करें तो उनमें अग्नि और उष्णता की भाँति कोई भेद नहीं है।।२७८।।

१५९ से १६३ तक की गाथाओं के सारांश को प्रस्तुत करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''गाथा १५९ में कहा है कि भगवान निश्चय से स्व को जानते हैं; क्योंकि वे उसमें तन्मय होकर जानते हैं तथा पर में तन्मय हुए बिना जानते हैं; इसलिये पर को व्यवहार से जानते हैं। गाथा १६० में कहा है कि केवली भगवान के एक समय में ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग होते हैं।

गाथा १६१ में कहा है कि ज्ञान पर को प्रकाशता है और दर्शन स्व को प्रकाशता है - इसप्रकार आत्मा को स्वप्रकाशक कहें तो विरोध आता है।

गाथा १६३ में कहते हैं कि आत्मा केवल परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न ठहरे; क्योंकि तुम्हारे मन्तव्य अनुसार दर्शन स्व को देखता है, पर को नहीं देखता; इसलिये उसमें विरोध आता है।

गाथा १६२ में ज्ञान को एकान्त से परप्रकाशक मानने पर ज्ञान व दर्शन दोनों भिन्न ठहरते हैं - यह बताया है और इस १६३वीं गाथा में आत्मा को परप्रकाशक मानने पर आत्मा और दर्शन दोनों भिन्न ठहरते हैं - यह बताया है - इसप्रकार प्रत्येक गाथा में विषय की भिन्नता है।[1]''

इसप्रकार स्वामीजी ने शुद्धोपयोग अधिकार की आरंभिक पाँच गाथाओं की विषयवस्तु को समझने की सुविधा के लिए गाथाओं के अनुसार संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८५

> ज्ञान के ज्ञेयरूप आत्मा में राग-द्वेष भी हो सकते हैं, होते भी हैं; पर श्रद्धेय आत्मा राग-द्वेषादि भावों से भिन्न ही होता है। ज्ञान आत्मा के स्वभाव एवं स्वभाव-विभाव सभी पर्यायों को भी जानता है; पर श्रद्धा मात्र स्वभाव में ही अपनत्व स्थापित करती है, एकत्व स्थापित करती है। अत: श्रद्धा का आत्मा मात्र स्वभावमय ही है।
>
> **ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-२४**

नियमसार गाथा १६३

इस गाथा में भी विगत गाथा में प्रतिपादित विषय को ही आगे बढ़ाया जा रहा है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।।१६३।।

(हरिगीत)

पर का प्रकाशक आत्म तो दृग भिन्न होगा आत्म से।
पर को न देखे दर्श ह्न ऐसा कहा तुमने पूर्व में।।१६३।।

यदि आत्मा परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा; क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत अर्थात् परप्रकाशक नहीं है ह्न तेरी मान्यता संबंधी ऐसा वर्णन पूर्वसूत्र में किया गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह 'एकान्त से आत्मा परप्रकाशक है' ह्न इस बात का खण्डन है।

जिसप्रकार पहले १६२वीं गाथा में एकान्त से ज्ञान के परप्रकाशकपने का निराकरण किया गया था; उसीप्रकार आत्मा का एकान्त से परप्रकाशकपना भी निराकृत हो जाता है; क्योंकि भाव और भाववान एक अस्तित्व से रचित होते हैं। यहाँ ज्ञान भाव है आत्मा भाववान है।

पहले १६२वीं गाथा में यह बतलाया था कि यदि ज्ञान एकान्त से परप्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा।

अब यहाँ इस गाथा में ऐसा समझाया है कि यदि एकान्त से आत्मा परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा।

यदि आत्मा परद्रव्यगत अर्थात् आत्मा एकान्त से परप्रकाशक नहीं है, स्वप्रकाशक भी है तो आत्मा से दर्शन की अभिन्नता भलीभाँति सिद्ध होगी। अत: आत्मा स्वप्रकाशक भी है ह्न यह सहज सिद्ध है।

जिसप्रकार १६२वीं गाथा में ज्ञान कथंचित् स्वपरप्रकाशक है ह्न

यह सिद्ध हुआ था; उसीप्रकार यहाँ आत्मा भी कथंचित् स्वपरप्रकाशक है ह्न ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि अग्नि और उष्णता के समान धर्मी और धर्म का स्वरूप एक ही होता है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार १६२वीं गाथा में ज्ञान स्व को जानता है, यह निश्चय है और पर को जानता है, यह व्यवहार है – इसप्रकार ज्ञान का स्वपर-प्रकाशकपना सिद्ध हुआ था; उसीप्रकार यहाँ आत्मा का स्व को जानना तो निश्चय है और पर को जानना व्यवहार है; **इसप्रकार आत्मा का स्वपरप्रकाशकपना निश्चित हुआ; क्योंकि अग्नि और उष्णता की तरह धर्मी और धर्म का स्वरूप एक होता है।**

अग्नि धर्मी है और उष्णता उसका धर्म है; जिसप्रकार अग्नि ने उष्णतारूपी धर्म को धारण किया है; उसीप्रकार आत्मा ने जानने-देखने के स्वभावरूपी धर्म को धारण किया है; इसलिये आत्मा धर्मी है। धर्म और धर्मी एक हैं, भिन्न नहीं। अतः पर की और विकार की रुचि छोड़कर गुण-गुणी की एकता कर – यहाँ इसका यही भाव है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि न केवल इस गाथा में अपितु सम्पूर्ण प्रकरण में एक बात ही सिद्ध की गई है कि आत्मद्रव्य तो स्वपरप्रकाशक है ही, उसके साथ ही उसके ज्ञान व दर्शन गुण भी स्वपरप्रकाशक हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम्।
सम्यग्दृष्टिर्निखिलकरणग्रामनीहारभास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम् ।।२७९।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८८

(हरिगीत)

इन्द्रियविषयहिमरवि सम्यग्दृष्टि निर्मल आतमा।
रे ज्ञान-दर्शन धर्म से संयुक्त धर्मी आतमा॥
में अचलता को प्राप्त कर जो मुक्तिरमणी को वरें।
चिरकालतक वे जीव सहजानन्द में स्थित रहें॥२७९॥

ज्ञान-दर्शन धर्मों से युक्त होने से वस्तुत: आत्मा धर्मी है। सभी इन्द्रिय समूहरूपी हिम (बर्फ) को पिलघाने के लिए सूर्य समान सम्यग्दृष्टि जीव दर्शनज्ञानयुक्त आत्मा में सदा अविचल स्थिति को प्राप्त कर सहज दशारूप से सुस्थित मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार सूर्य विकसित होने पर बर्फ के टुकड़ों के समूह को नष्ट कर देता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से खण्ड-खण्ड ज्ञान का नाश करने के लिये सूर्य समान है।[१]

'मैं तो एकरूप स्वपरप्रकाशक आत्मा हूँ' - ऐसी दृष्टि तो उसे है ही; परन्तु वह उस आत्मा में पुरुषार्थ करके सदा अविचल रहने वाली स्थिति प्राप्त करता है। साधकदशा में शुभाशुभभाव आते हैं; परन्तु उनसे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; बल्कि स्वभाव में अविचलरूप से लीनता करने से वह सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति पाता है, जो मुक्ति प्रगट हुई वह सहज अवस्थारूप से सुरक्षित रहती है। ज्ञानदर्शनमय आत्मा अनादि से था; परन्तु उसके आश्रय से प्रगट होनेवाली मुक्ति की पर्याय अनादि की नहीं थी, वह तो नवीन प्रगट होती है। अभेद सामान्य स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति की प्राप्ति करता है।[२]''

इस छन्द में यही कहा गया है कि ज्ञानदर्शनस्वभावी स्वपरप्रकाशक आत्मा में अविचल स्थिति धारण करनेवाले एवं पंचेन्द्रिय विषयोंरूपी बर्फ को पिलघाने में सूर्य के समान समर्थ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा सहज दशारूप मुक्ति को प्राप्त करते हैं। •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८९
२. वही, पृष्ठ १३८९

नियमसार गाथा १६४

अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि व्यवहारनय से ज्ञान और आत्मा के समान दर्शन भी परप्रकाशक है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा॥१६४॥

(हरिगीत)

परप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा व्यवहार से।
अर परप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा व्यवहार से॥१६४॥

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) है; इसलिए व्यवहारनय से दर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है। व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक (पर को देखने-जाननेवाला) है; इसलिए व्यवहारनय से दर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारनय की सफलता को प्रदर्शित करनेवाला कथन है। समस्त घातिकर्मों के क्षय से प्राप्त होनेवाला पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान; पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन परद्रव्य और उनके गुण व उनकी पर्यायों के समूह का प्रकाशक (जाननेवाला) किसप्रकार है ?

ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तर में कहते हैं कि **'पराश्रितो व्यवहार: ह्न** व्यवहार पराश्रित होता है' ह्न आगम के उक्त कथन के आधार पर व्यवहारनय के बल से ऐसा है। तात्पर्य यह है कि आगम में व्यवहारनय से केवलज्ञान को परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) कहा गया है। इसीप्रकार केवलदर्शन भी व्यवहारनय से परप्रकाशक (पर को देखने वाला) है।

तीन लोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत एवं सौ इन्द्रों से वंदनीय कार्यपरमात्मा तीर्थंकर परमदेव अरहंत भगवान भी केवलज्ञान के समान ही व्यवहारनय

से परप्रकाशक (पर को देखने–जाननेवाले) हैं। उसी के अनुसार व्यवहार नय के बल से उनके केवलदर्शन को परप्रकाशकपना (पर को देखनेरूप प्रकाशनपना) है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''तीर्थंकर के जन्मकल्याणक आदि प्रसंग में तीनों लोक में आनन्द मय हलचल हो जाती है। नरक के जीवों को भी उस समय शांति उत्पन्न होती है। तीर्थंकर की पुण्य प्रकृति का और जीवों की योग्यता का ऐसा ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है तथा तीर्थंकर सौ इन्द्रों से साक्षात् वन्दनीय हैं। वे तीर्थंकर कार्य परमात्मा हैं। त्रिकाली शक्ति को कारण परमात्मा कहते हैं, उसके अवलम्बन से जो केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगट हुआ, उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं; उन तीर्थंकरों की आत्मा के, ज्ञान की तरह व्यवहारनय के बल से परप्रकाशकपना है अर्थात् पर में प्रवेश किये बिना ही वे लोकालोक को देखते–जानते हैं; जिससे व्यवहारनय के बल से भगवान का केवलदर्शन भी पर में प्रविष्ट हुए बिना लोकालोक को देखता है।[1]''

गाथा और उसकी टीका में यह बात स्पष्ट की गई है कि जिसप्रकार व्यवहारनय से केवलज्ञान परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) है; उसीप्रकार केवलदर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है।

इसीप्रकार जैसे व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक (पर को देखने–जाननेवाला) है; तैसे केवलदर्शन भी व्यवहार से परप्रकाशक (पर को देखने वाला) है।

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ ह्न** तथा श्रुतबिन्दु में भी कहा है' **ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३९१–१३९२

(मालिनी)

जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि–
प्रविलसदुरुमालाभ्यार्चितांघ्रिर्जिनेन्द्रः।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम्।।७९।।[1]

(हरिगीत)

अरे जिनके ज्ञान में सब द्रव्य लोकालोक के।
इसतरह प्रतिबिंबित हुए जैसे गुंथे हों परस्पर।।
सुरपती नरपति मुकुटमणि की माल से अर्चित चरण।
जयवंत हैं इस जगत में निर्दोष जिनवर के वचन।।७९।।

जिन्होंने १८ दोषों को जीता है, जिनके चरणों में इन्द्र तथा चक्रवर्तियों के मणिमाला युक्त मुकुटवाले मस्तक झुकते हैं और जिनके ज्ञान में लोकालोक के सभी पदार्थ इसप्रकार ज्ञात होते हैं, प्रवेश पाते हैं; कि जैसे वे एक–दूसरे से गुंथ गये हैं; ऐसे जिनेन्द्र भगवान जयवन्त वर्तते हैं।

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए यह कहा गया है कि वे १८ दोषों से रहित हैं, लोकालोक के सभी पदार्थों को जानते हैं और इन्द्र व चक्रवर्ती उनके चरणों में नतमस्तक रहते हैं; वे जिनेन्द्र भगवान जयवंत वर्तते हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।२८०।।

१. श्रुतबिन्दु, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

(हरिगीत)

ज्ञान का घनपिण्ड आतम अरे निर्मल दृष्टि से।
है देखता सब लोक को इस लोक में व्यवहार से।।
मूर्त और अमूर्त सब तत्त्वार्थ को है जानता।
वह आतमा शिववल्लभा का परम वल्लभ जानिये।।२८०।।

ज्ञानपुंज यह आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दृष्टि (दर्शन) होने से अर्थात् केवलदर्शन होने से व्यवहारनय से सर्वलोक देखता है तथा केवलज्ञान से सभी मूर्त-अमूर्त पदार्थों को जानता है। ऐसा वह भगवान आत्मा परमश्रीरूपी कामिनी का, मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ (प्रिय) होता है।

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनकी स्तुति की गई है। शिववल्लभा (अत्यन्त प्रिय मुक्तिरूपी पत्नी) के अत्यन्त वल्लभ (प्रिय) अरहंत भगवान सम्पूर्ण लोकालोक को केवलदर्शन से देखते हैं और केवलज्ञान से जानते हैं। इसप्रकार वे व्यवहारनय से सम्पूर्ण लोकालोक को देखते-जानते हैं। ●

चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ तत्त्व की सत्ता भी लोक में है। आत्मा में अपनी भूल से मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा शुभाशुभ भावों की परिणति में ही यह आत्मा उलझा (बंधा) हुआ है। जब तक आत्मा अपने स्वभाव को पहिचान कर आत्मनिष्ठ नहीं हो पाता; तब तक मुख्यत: मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति रुके, इसका एक मात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्म-केन्द्रित हो जाना है। इसी से शुभाशुभ भावों का अभाव होकर वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय वह होगा कि समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग-परिणतिरूप परिणत हो जायेगा। दूसरे शब्दों में पूर्ण ज्ञानानन्दमय पर्यायरूप परिणमित हो जायेगा।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१०

नियमसार गाथा १६५

विगत गाथा में व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा के पर-प्रकाशकपने की बात की थी और अब इस गाथा में निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन आत्मा के स्वप्रकाशकपने की बात करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार हैह्न

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।।१६५।।

(हरिगीत)

निजप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा परमार्थ से।
अर निजप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा परमार्थ से।।१६५।।

निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक (स्वयं को जाननेवाला) है; इसलिए निश्चयनय से दर्शन भी स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) है।

निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक (स्वयं को देखने-जाननेवाला) है; इसलिए दर्शन भी स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयनय से स्वरूप का कथन है। यहाँ जिसप्रकार स्व-प्रकाशनपने (अपने आत्मा को जानने) को निश्चयनय से शुद्धज्ञान का लक्षण कहा है; उसीप्रकार समस्त आवरण से युक्त शुद्ध दर्शन भी स्व-प्रकाशक (अपने आत्मा को देखनेवाला) ही है।

सर्व इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से आत्मा जिसप्रकार वस्तुत: स्वप्रकाशक (स्वयं को जानने-देखने) रूप लक्षण से लक्षित है; उसीप्रकार बहिर्विषयपना छोड़ा होने से दर्शन भी स्वप्रकाशकत्व (अपने आत्मा को देखनेरूप) प्रधान ही है।

इसप्रकार स्वरूपप्रत्यक्षलक्षण से लक्षित आत्मा; अखण्ड, सहज, शुद्धज्ञानदर्शनरूप होने के कारण, निश्चय से, त्रिलोक-त्रिकालवर्ती

स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायरूप विषयों संबंधी प्रकाश्य-प्रकाशकादि विकल्पों से अति दूर वर्तता हुआ, स्वस्वरूप संचेतन लक्षण प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होने के कारण, निरन्तर अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ कोई प्रश्न करता है कि दर्शन और ज्ञान दोनों का काम स्वप्रकाशकपना कहने से तो दोनों गुण एक हो जायेंगे?

नहीं; दोनों गुण भिन्न-भिन्न हैं और दोनों के कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं, दोनों का विषय भी भिन्न है। दर्शन का विषय सामान्य है और ज्ञान का विषय विशेष है। दर्शन का विषय अभेद है और ज्ञान का विषय भेद है। दोनों का स्वप्रकाशकपना कहा है; इसलिए दोनों एक नहीं हो जाते। उनकी अपनी-अपनी विशेषता कायम रहती है।[१]

१. कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता; परन्तु जो वर्तमान सामान्य को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं। उनकी यह मान्यता गलत है; क्योंकि वे अल्पज्ञ को सर्वज्ञ मानते हैं।

२. तथा कुछ लोग कहते हैं कि केवली भगवान लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं; अतः पर को जानते ही नहीं हैं, उनकी ऐसी मान्यता गलत है; क्योंकि वास्तव में केवली पर में तन्मय नहीं होते; अतः व्यवहार कहा है; परन्तु उनका लोकालोक को जानना तो यथार्थ है।

३. तथा कुछ लोग केवलज्ञान और केवलदर्शन का होना क्रमशः मानते हैं; यह भी गलत है; क्योंकि उनके दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।[२]''

१६४ व १६५वीं गाथा में ज्ञान, दर्शन और आत्मा को समानरूप से परप्रकाशक एवं स्वप्रकाशक बताया गया है। इससे ऐसा लगता है

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३९५ २. वही, पृष्ठ १३९६

कि जैसे तीनों का एक ही काम है, पर ऐसा नहीं है; क्योंकि **ज्ञान स्व और पर को जाननेरूप प्रकाशित करता है, दर्शन देखनेरूप प्रकाशित करता है और आत्मा देखने-जाननेरूप प्रकाशित करता है।**

इसीप्रकार दर्शन सामान्यग्राही है, ज्ञान विशेषग्राही है और आत्मा सामान्य-विशेषात्मक पदार्थग्राही है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि इन गाथाओं में निश्चय-व्यवहारनय की संधिपूर्वक स्वपरप्रकाशी ज्ञान और आत्मा के माध्यम से दर्शन को स्वपरप्रकाशक सिद्ध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान और आत्मा के स्वपरप्रकाशनपने को आधार बनाकर दर्शन को स्वपरप्रकाशी सिद्ध किया गया है ।।१६५।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चैषः।
एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ।।२८१।।

(हरिगीत)

परमार्थ से यह निजप्रकाशक ज्ञान ही है आतमा।
बाह्य आलम्बन रहित जो दृष्टि उसमय आतमा।।
स्वरस के विस्तार से परिपूर्ण पुण्य-पुराण यह।
निर्विकल्पक महिम एकाकार नित निज में रहे ।।२८१।।

निश्चय से स्वप्रकाशक ज्ञान आत्मा है। जिसने बाह्य आलम्बन का नाश किया है ह्न ऐसा स्वप्रकाशक दर्शन भी आत्मा है। निजरस के विस्तार पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है तथा पुरातन है; ऐसा आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा में निश्चितरूप से वास करता है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चयनय से स्वप्रकाशक (स्वयं को जाननेवाला) ज्ञान और स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) दर्शन ही आत्मा हैं। निश्चयनय से स्व को देखने-जाननेवाला यह ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा पुरातन है, पवित्र है और अपने निर्विकल्पक महिमा में सदा मग्न है ।।२८१।।

●

नियमसार गाथा १६६

विगत गाथा में निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब बहुचर्चित आगामी गाथा में यह बताते हैं कि केवली भगवान आत्मा को ही देखते हैं, लोकालोक को नहीं; ह्न यदि कोई (निश्चयनय से) ऐसा कहता है तो इसमें क्या दोष है।

तात्पर्य यह है कि उसमें कोई दोष नहीं है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।।१६६।।

(हरिगीत)

देखे-जाने स्वयं को पर को नहीं जिनकेवली।
यदि कहे कोई इसतरह उसमें कहो है दोष क्या ? ।।१६६।।

केवली भगवान आत्मस्वरूप को देखते हैं, लोकालोक को नहीं; ह्न यदि कोई (निश्चयनय) ऐसा कहता है तो उसमें क्या दोष है ?

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से पर को देखने का खण्डन है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहारनय से एक समय में तीन काल संबंधी पुद्‌गलादि द्रव्यों के गुण, पर्यायों को जानने में समर्थ केवलज्ञानमात्र स्वरूप महिमा का धारक है; तथापि केवलदर्शनरूप तीसरी आँखवाला होने पर भी, परमनिरपेक्षपने के कारण पूर्णत: अन्तर्मुख होने से केवल स्वरूप प्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा सच्चिदानन्दमय आत्मा को वेदन करनेवाले परमजिनयोगीश्वर शुद्ध-निश्चयनय से कहते हैं तो उसमें कोई दोष नहीं है।''

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

'' 'निश्चयनय से केवली भगवान स्व को जानते हैं, पर को नहीं' – इससे कोई ऐसा अर्थ करे कि वे लोकालोक को जानते ही नहीं तो यह बात गलत है।

इस गाथा में 'शुद्धनिश्चयनय से केवली भगवान स्व को देखते है' – ऐसा कहकर व्यवहार का खण्डन किया है।

केवली भगवान त्रिकालसंबंधी अनन्त पद्‌गल, दूसरे जीव तथा धर्मादि द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने में समर्थ हैं। तथा अनन्तसिद्ध और केवलियों को भी जानते हैं। ऐसे समर्थ सकल विमल केवलज्ञान आदि विविध महिमा के धारक भगवान हैं। भगवान का आत्मा और केवलज्ञान भिन्न नहीं है। वह आत्मा से अभेद है। – इसप्रकार भगवान व्यवहार से लोकालोक को जानने पर भी निश्चय से अपनी आत्मा को जानते हैं।[१]

कोई शुद्ध अंतःतत्त्व के ज्ञाता परमवीतरागी मुनि निश्चयनय की विवक्षा से ऐसा कहें तो उसमें दोष नहीं है; क्योंकि वे व्यवहार की अपेक्षा समझकर, उसे गौण कर ऐसा कहते हैं। इससे भगवान लोकालोक को जानते ही नहीं – ऐसा कोई अर्थ करे तो वह गलत है; परन्तु व्यवहार को गौण करके निश्चयनय की विवक्षा से कहें तो दोष नहीं है।[२]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि **यद्यपि शुद्धनिश्चयनय का उक्त कथन पूर्णत: सत्य है; तथापि केवली भगवान पर को जानते ही नहीं हैं ह्न यह बात नहीं है। वे उन पदार्थों में तन्मय नहीं होते, उनमें अपनापन नहीं करते; इसकारण उनके पर संबंधी परम सत्य ज्ञान को भी व्यवहार कहा गया है।।१६६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्त:शुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम्।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नैव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपंच: ।।२८२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४०१
२. वही, पृष्ठ १४०२

(हरिगीत)

अत्यन्त अविचल और अन्तर्मग्न नित गंभीर है।
शुद्धि का आवास महिमावंत जो अति धीर है।।
व्यवहार के विस्तार से है पार जो परमातमा।
उस सहज स्वातमराम को नित देखता यह आतमा ।।२८२।।

जो एक है, विशुद्ध है, निज अन्तशुद्धि का आवास होने से महिमावंत है, अत्यन्त धीर है और अपने आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से पूर्णत: अन्तर्मग्न हैं; स्वभाव से महान उस आत्मा में व्यवहार का प्रपंच (विस्तार) है ही नहीं।

सोनगढ से प्रकाशित नियमसार में इस कलश के संदर्भ में जो टिप्पणी लिखी गई है; वह इसप्रकार है ह्न

''यहाँ निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी ऐसा समझना कि – जिसमें स्व की ही अपेक्षा हो वह निश्चयकथन है और जिसमें पर की अपेक्षा आये वह व्यवहार कथन है; इसलिये केवली भगवान लोकालोक को – पर को जानते-देखते हैं ऐसा कहना व्यवहार कथन है और केवली भगवान स्वात्मा को जानते-देखते हैं ऐसा कहना निश्चय कथन है।

यहाँ व्यवहार कथन का वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिसप्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है; उसीप्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं है।

छद्मस्थ जीव के साथ तुलना की अपेक्षा से तो केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं ह्न यह बराबर सत्य है; यथार्थ है, क्योंकि वे त्रिकाल सम्बन्धी सर्व द्रव्य गुणपर्यायों को यथास्थित बराबर परिपूर्णरूप से वास्तव में जानते-देखते हैं। 'केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं' ह्न ऐसा कहते हुए पर की अपेक्षा आती है ह्न इतना ही सूचित करने के लिये तथा केवली भगवान जिसप्रकार स्व को तद्‌रूप होकर निजसुख संवेदन सहित जानते-देखते हैं; उसीप्रकार लोकालोक को (पर को) तद्‌रूप होकर परसुखदु:खादि के संवेदन सहित नहीं जानते-देखते, परन्तु पर से बिलकुल भिन्न रहकर, पर के

सुखदु:खादि का संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं ह्न इतना ही सूचित करने के लिये उसे व्यवहार कहा है।''

इस कलश का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी कथन ऐसा समझना कि जिसमें स्व की ही अपेक्षा हो, वह निश्चय कथन है और जिसमें पर की अपेक्षा आये, वह व्यवहार कथन है; इसलिए केवली भगवान लोकालोक को, पर को जानते-देखते हैं – ऐसा कहना व्यवहार कथन है और केवली भगवान स्वात्मा को जानते-देखते हैं – ऐसा कहना निश्चय कथन है।

यहाँ व्यवहार कथन का वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिसप्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है; उसीप्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं हैं।

छद्मस्थ जीव के साथ तुलना की अपेक्षा से तो केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं, वह बराबर सत्य है – यथार्थ है; क्योंकि वे त्रिकाल सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को यथास्थिति बराबर परिपूर्णरूप से वास्तव में जानते-देखते हैं। 'केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं' ऐसा कहते हुए पर की अपेक्षा आती है तथा केवली भगवान जिसप्रकार स्व को तद्‌रूप होकर सुखदु:खादि के संवेदन सहित नहीं जानते-देखते; परन्तु पर से बिल्कुल भिन्न रहकर, पर के सुख-दु:खादि संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं। इतना ही सूचित करने के लिए उसे व्यवहार कहा है।[१]

ज्ञान पर को जानता है; अत: व्यवहार कहा है, इससे कोई ऐसा माने कि ज्ञान पर को जानता ही नहीं तो ऐसा नहीं है।[२]''

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान आत्मा में व्यवहार का प्रपंच नहीं है, व्यवहारनय के द्वारा निरूपित विस्तार नहीं है, गौण है। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४०३-१४०४　　　२. वही, पृष्ठ १४०४

नियमसार गाथा १६७

विगत गाथा में यह कहा गया है कि केवली भगवान आत्मा को देखते-जानते हैं, पर को नहीं ह्न निश्चयनय के इस कथन में कोई दोष नहीं है। अब इस गाथा में केवलज्ञान का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ।।१६७।।

(हरिगीत)

चेतन-अचेतन मूर्त और अमूर्त सब जग जानता।
वह ज्ञान है प्रत्यक्ष अर उसको अतीन्द्रिय जानना।।१६७।।

मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन द्रव्यों को, स्व को, सभी को देखने-जाननेवालों का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह केवलज्ञान के स्वरूप का व्याख्यान है।

छह द्रव्यों में पुद्गल को मूर्तपना और शेष पाँच द्रव्यों को अमूर्तपना है तथा जीव को चेतनपना और शेष पाँच को अचेतनपना है। त्रिकालवर्ती मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि समस्त द्रव्यों को निरन्तर देखने-जाननेवाले भगवान श्रीमद् अरहंत परमेश्वर का अतीन्द्रिय सकल विमल केवलज्ञान; क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान रहित सकलप्रत्यक्ष है।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''केवलज्ञान परपदार्थों को भी जानता है। इसकारण परोक्ष हो जावेगा - ऐसी शंका कोई करता है तो उसका समाधान यह है कि **केवलज्ञान मूर्तिक पदार्थों में प्रवेश किये बिना ही उन्हें प्रत्यक्ष जानता है, उनके आधीन नहीं है; अत: स्वाधीन होने से परोक्ष नहीं होगा।**

तथा कोई कहता है कि जब केवलज्ञान परपदार्थों में प्रवेश ही नहीं करता तो उन्हें प्रत्यक्ष कैसे जानेगा?

उपर्युक्त शंका नहीं करना चाहिए; क्योंकि **केवलज्ञान अनन्त सामर्थ्य सम्पन्न होने से तीन लोक के मूर्त-अमूर्त पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष जानता है।**

यहाँ फिर कोई कहता है कि केवली परमाणु में प्रवेश किए बिना उसकी अनन्त शक्तियों को कैसे जान लेंगे?

इसका समाधान यह है कि **केवली कहते ही उसे हैं; जो पर में प्रवेश किए बिना, अपने में रहकर समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं।**

यहाँ आत्मा का स्वपरप्रकाशक स्वभाव सिद्ध करते हुए बताते हैं कि परपदार्थ के कारण आत्मा का स्वपरप्रकाशक स्वभाव नहीं है; प्रत्युत यह स्वभाव तो उसकी उपादानगत योग्यता से स्वयमेव प्रगट हुआ है। वह स्वभाव (केवलज्ञान) समस्त परपदार्थों को उनमें तन्मय हुए बिना एवं इन्द्रियों के बिना प्रत्यक्ष जानता है।[1]

उनके ज्ञान की निम्नांकित तीन विशेषताएँ हैं -

(१) भगवान का ज्ञान क्रमरहित है अर्थात् पहले दर्शन और बाद में ज्ञान - ऐसा क्रम भगवान के ज्ञान में नहीं है। तथा पहले परपदार्थों को सामान्य रूप से जानते हैं और बाद में विशेषरूप से जानते हैं - ऐसा भी क्रम उनके ज्ञान में नहीं पड़ता।

(२) इन्द्रियातीत होने से उनका ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है; क्योंकि इन्द्रिययुक्त ज्ञान समस्त पदार्थों को एकसाथ नहीं जान सकता।

(३) उस ज्ञान में कोई व्यवधान नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान के लिए कोई भी पदार्थ अगम्य नहीं है।[2]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि इन्द्रिय, क्रम और व्यवधान से रहित केवलज्ञान; मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४०५-१४०६
२. वही, पृष्ठ १४०७

सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है; क्योंकि वह ज्ञान पूर्णत: निर्मल और अतीन्द्रिय है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है'** ह्र ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्र

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ।।८०।।[१]

(हरिगीत)

अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को।
स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है।।८०।।

देखनेवाले आत्मा का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय पदार्थों को और प्रच्छन्न पदार्थों को तथा स्व और पर ह्र सभी को देखता है, जानता है; वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

इस गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''यहाँ यह कहा जा रहा है कि भगवान का ज्ञान इन्द्रियमूर्त और अतीन्द्रियमूर्त तथा अमूर्त पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष जानता है। **शरीरादि इन्द्रियगम्य हैं; अत: वे इन्द्रियमूर्त पदार्थ कहलाते हैं एवं परमाणु व सूक्ष्म स्कन्ध इन्द्रियगोचर न होने से अतीन्द्रियमूर्त कहलाते हैं।**

भूत और भविष्य की पर्यायें विनष्ट और अनुत्पन्न होने से प्रच्छन्न पदार्थों की श्रेणी में आती हैं। उन सभी पर्यायों को केवलज्ञानी युगपत् प्रत्यक्ष जानते हैं। कौन जीव कब मोक्ष जाएगा, कौन जीव मोक्ष नहीं जाएगा, तत्त्व के आराधक और विराधक कहाँ जायेंगे – ये सभी बातें साधारण जीवों के लिए अगम्य होने पर भी केवली के लिए पूर्णतया गम्य हैं।[२]''

उक्त गाथा और उसकी टीका का सार यह है कि **अतीन्द्रिय क्षायिक**

१. प्रवचनसार, गाथा ५४
२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४०८

केवलज्ञान में स्व-पर और मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थ अपनी सभी स्थूल-सूक्ष्म पर्यायों के साथ एक समय में जानने में आते हैं।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द स्वयं प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैह्र

(मंदाक्रांता)

सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरु: शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्र: ।।२८३।।

(हरिगीत)

अनन्त शाश्वतधाम त्रिभुवनगुरु लोकालोक के।
रे स्व-पर चेतन-अचेतन सर्वार्थ जाने पूर्णत:।।
अरे केवलज्ञान जिनका तीसरा जो नेत्र है।
विदित महिमा उसी से वे तीर्थनाथ जिनेन्द्र हैं।।२८३।।

केवलज्ञानरूप तीसरे नेत्र से प्रसिद्ध महिमा धारक त्रैलोक्यगुरु हे तीर्थनाथ जिनेन्द्र ! आप अनन्त शाश्वतधाम हो और लोकालोक अर्थात् स्व-पर समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को भलीभाँति जानते हो।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''केवली भगवान की महिमा उनके केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट नयन से है; परमौदारिक शरीर, दिव्यध्वनि, समवशरण आदि से नहीं; क्योंकि ये सभी पुण्य के परिणाम हैं। समवशरण में होने वाले अतिशयों के द्वारा भी भगवान की महिमा नहीं है। जैसे कि समवशरण में सिंह और बकरी एक साथ बैठते हैं; इत्यादि नानाप्रकार के अतिशयों से उनकी महिमा नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि **भगवान ने भी पुण्य का निषेध करके, अन्तर में स्थिर होकर केवलज्ञान प्रकट किया है।**

समवशरण में गणधरादि मुनिराज आते हैं, इन्द्र आते हैं – यह सब पुण्य का प्रताप है, जड़ की क्रीड़ा है। इसमें चेतन की जरा भी महिमा नहीं है। **यदि भगवान की महिमा बाह्य ऋद्धि के कारण होती तो बाह्य ऋद्धि होने के कारण देवतागण भी भगवान कहलाते।**

सर्वज्ञदेव परमगुरु हैं और गणधरादि मुनिराज अपरगुरु हैं। इन्द्र, नरेन्द्र, वासुदेव, बलदेव आदि भगवान के चरणों में झुकते हैं; अतः भगवान से बड़ा कोई नहीं है। अनंत सामर्थ्य के धारक परमगुरु सर्वज्ञदेव के आंतरिक और बाह्य वैभव की जैसी भव्यता है, वैसी भव्यता अन्य किसी की नहीं होती। शरीरादि की भव्यता वास्तव में भव्यता नहीं है; क्योंकि उसके होने से सुख नहीं है और न होने से दुःख नहीं है। परन्तु **अनुकूलता और प्रतिकूलता में समताभाव रखना सच्चा धर्म और सुख है।**[1]''

तीर्थंकर भगवान जिनेन्द्रदेव की महिमा के सूचक इस छन्द में यही कहा गया है कि हे जिनेन्द्र भगवान आप तीन लोक में रहनेवाले सभी भव्य आत्माओं के गुरु हो, अनन्त सुख के शाश्वत धाम हो और लोकालोक में रहनेवाले सभी चेतन-अचेतन पदार्थों को भलीभाँति जानते हो। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४०८-१४०९

> परमागम आगम का ही अंश है, जिसे अध्यात्म भी कहते हैं। अध्यात्म में रंग, राग और भेद से भी भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय व दृष्टि के विषयभूत एवं ध्यान के ध्येयरूप, परमपारिणामिकभाव-स्वरूप त्रैकालिक व अभेदस्वरूप निजशुद्धात्मा को ही जीव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सभी भावों को अनात्मा, अजीव, पुद्गल आदि नामों से कह दिया जाता है। इसका एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को पर, पर्याय व भेद से भी हटाकर निज शुद्धात्मतत्त्व पर लाना है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता निजशुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से ही होती है।
>
> अध्यात्मरूप परमागम का समस्त कथन इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर होता है। **ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१०३**

नियमसार गाथा १६८

विगत गाथा में केवलज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अब इस गाथा में यह कहते हैं कि केवलदर्शन के अभाव में केवलज्ञान संभव नहीं है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स।।१६८।।

(हरिगीत)

विविध गुण पर्याय युत वस्तु न जाने जीव जो।
परोक्षदृष्टि जीव वे जिनवर कहें इस लोक में।।१६८।।

अनेक प्रकार के गुणों और पर्यायों से सहित पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को जो भलीभाँति नहीं देखता; उसे परोक्ष दर्शन कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसा कहा है कि केवलदर्शन (प्रत्यक्षदर्शन) के अभाव में सर्वज्ञपना संभव नहीं।

पूर्वसूत्र अर्थात् १६७वीं गाथा में कहे गये समस्त गुणों और पर्यायों सहित मूर्तादि द्रव्यों को जो नहीं देखता; अर्थात् मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण, अचेतन द्रव्य, अचेतन गुण, अमूर्त द्रव्य के अमूर्त गुण, चेतन द्रव्य के चेतन गुण; छह प्रकार की हानि-वृद्धिरूप सूक्ष्म, परमागम के अनुसार स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें जो कि सभी छह द्रव्यों में सामान्यरूप से रहती हैं, पाँच प्रकार की संसारी जीवों की नर-नारकादि व्यंजनपर्यायें; पुद्गलों की स्थूल-स्थूल आदि स्कंध पर्यायें और धर्मादि चार द्रव्यों की शुद्धपर्यायें ह्न इन गुण और पर्यायों से सहित द्रव्यसमूह को जो नहीं देखता; वह भले ही सर्वज्ञता के अभिमान से दग्ध हो; तथापि उसे संसारियों के समान परोक्ष दृष्टि ही है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में यह बताते हैं कि केवलदर्शन के अभाव में केवलज्ञान भी सिद्ध नहीं होता।

इस गाथा में केवलज्ञान सहित केवलदर्शन को प्रत्यक्ष कहा है और द्रव्यों को सम्यक् प्रकार से नहीं देखने को परोक्ष दर्शन कहा है। इसप्रकार नास्ति से कथन किया है। इससे पहले की गाथा में अस्ति से बात की थी। जड़ के जड़, चेतन के चेतन, मूर्त के मूर्त और अमूर्त के अमूर्त – इसप्रकार विभिन्न प्रकार के गुण होते हैं और उनकी पर्यायें भी अनेक प्रकार की होती हैं। ये सभी जिसरूप में हैं, उस रूप में जो इन्हें नहीं देखता है, उसके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है; परन्तु परोक्ष दर्शन है – ऐसा यहाँ बताया है।

यहाँ बताया जा रहा है कि केवलदर्शन के अभाव में अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में सर्वज्ञपना सिद्ध नहीं होता है।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि केवलदर्शन के बिना केवलज्ञान नहीं होता। केवलदर्शन और केवलज्ञान ही क्रमश: प्रत्यक्षदर्शन और प्रत्यक्षज्ञान हैं। चक्षुदर्शन आदि अन्यदर्शन और मतिज्ञान आदि अन्य ज्ञान परोक्ष दर्शन-ज्ञान हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव
कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मन: स्यात् ।।२८४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४११

(हरिगीत)

'मैं स्वयं सर्वज्ञ हूँ' ह्न इस मान्यता से ग्रस्त जो।
पर नहीं देखे जगतत्रय त्रिकाल को इक समय में।।
प्रत्यक्षदर्शन है नहीं ज्ञानाभिमानी जीव को।
उस जड़ात्मन को जगत में सर्वज्ञता हो किसतरह? ।।२८४।।

सर्वज्ञता के अभिमानवाला जो जीव एक ही समय तीन लोक और तीन काल को नहीं देखता; उसे कभी भी अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता; उस जड़ आत्मा को सर्वज्ञता किसप्रकार होगी ? तात्पर्य यह है कि वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**कुछ लोग गृहस्थ अवस्था में भी सर्वज्ञता मानते हैं; परन्तु कपड़ा आदि रहते जब मुनिपना ही नहीं होता, तब सर्वज्ञपना तो हो ही नहीं सकता।** यहाँ तो सर्वज्ञपने की व्याख्या करते हुए टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि जिसे तीन काल और तीन लोक का ज्ञान नहीं है, ऐसे पुरुष को सर्वज्ञ मानना तो मूर्खता है, ऐसी मान्यतावाले जीव जड़ हैं; क्योंकि अल्पज्ञता में सर्वज्ञता माननेवाला परम्परा से निगोद जाता है और वहाँ जड़ जैसा ही हो जाता है; अतः उसे यहाँ जड़ कहा है।[१]

आत्मा स्व-परप्रकाशक है – उसका स्वभाव सभी को जानने की सामर्थ्यवाला है। जो ऐसा नहीं मानकर अल्पज्ञ को सर्वज्ञ मानता है; वह मिथ्यादृष्टि है, जड़ है।[२]''

इस छन्द में यही कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वयं को सर्वज्ञ मानता है ह्न ऐसा सर्वज्ञाभिमानी जीव जब एक ही समय तीन लोक और तीन काल को नहीं देखता, नहीं जानता; तो वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है?

तात्पर्य यह है कि वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वज्ञ कहते ही उसे हैं; जो लोक के सभी द्रव्यों, उनके सभी गुणों और उनकी सभी पर्यायों को बिना किसी के सहयोग देखे-जाने। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४१३-१४१४ २. वही, पृष्ठ १४१४

नियमसार गाथा १६९

विगत गाथा में यह कहा गया था कि केवलदर्शन के बिना केवलज्ञान संभव नहीं है और अब इस गाथा में व्यवहारनय संबंधी कथन को निर्दोष बता रहे हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।।१६९।।

(हरिगीत)

सब विश्व देखें केवली निज आत्मा देखें नहीं।
यदि कहे कोई इसतरह उसमें कहो है दोष क्या?।।१६९।।

व्यवहारनय से केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं, आत्मा को नहीं ह्न यदि कोई ऐसा कहे तो उसे क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि उसके उक्त कथन में कोई दोष नहीं है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारनय के प्रादुर्भाव का कथन है।

'व्यवहारनय पराश्रित है' ह्न ऐसे शास्त्र के अभिप्राय के कारण व्यवहारनय से, व्यवहारनय की प्रधानता से; सकलविमल केवलज्ञान है तीसरा नेत्र जिनका और अपुनर्भवरूपी कमनीय मुक्ति कामिनी के जीवितेश (प्राणनाथ) सर्वज्ञ भगवान, छह द्रव्यों से व्याप्त तीन लोक को और शुद्ध आकाशमात्र आलोक को जानते हैं और निर्विकार शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं जानते ह्न ऐसा यदि व्यवहारनय की विवक्षा से कोई जिनेन्द्र भगवान कथित तत्त्व में दक्ष जीव कदाचित् कहे तो उसे वस्तुत: उसे कोई दोष नहीं है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्व को जानने से पर ज्ञात हो जाता है – यह निश्चय कथन है

और भगवान पर को जानते हैं – ऐसा कहना व्यवहार है। पर का ज्ञान परोक्ष नहीं है; पर प्रत्यक्ष है। ऐसा चैतन्य का सामर्थ्य है। **भगवान को लोकालोक के ज्ञान का वेदन है, पर लोकालोक का वेदन नहीं है। यह भेदज्ञान कराने के लिए भगवान व्यवहार से लोकालोक को जानते हैं – ऐसा कहा है।**[1]

श्रुतज्ञान का अंश नय है। केवली को नय नहीं है; परन्तु कोई ज्ञानी ऐसा कहे कि केवली भगवान पर को व्यवहार से जानते हैं तो उसमें दोष नहीं है। उसे आत्मा का ज्ञान हुआ है; अतः वह ऐसा कहता है कि केवली निश्चय से स्व को ही देखते हैं, पर को नहीं। और व्यवहार से वे पर को ही देखते हैं, स्वयं को नहीं। – यह कथन ठीक है। केवली का आत्मा लोकालोक को छूता नहीं है अर्थात् उसमें एकमेक होकर नहीं जानता है – 'इस बात में कोई दोष नहीं है' – ऐसा कहकर आचार्यदेव आत्मा के अलावा लोकालोक की सत्ता भी सिद्ध करते हैं।[2]

जो ज्ञान है, वही आत्मा है। इसप्रकार स्वसन्मुख होकर ज्ञानी जिस समय स्व को जानता है, उस समय साधकदशा में जो राग है, उस राग के वेदन बिना (अपनेपन बिना) राग का जो ज्ञान है, वह निश्चय है और ज्ञानी आत्मा राग को जानता है – ऐसा कहना असद्भूत व्यवहार है। जो ज्ञान है, वही आत्मा है – इसप्रकार स्वसन्मुख होकर ज्ञानी जिस समय स्व को जानता है, उस समय साधकदशा में जो राग है, उस राग के वेदन बिना राग का जो ज्ञान है, वह निश्चय है और ज्ञानी आत्मा राग को जानता है, ऐसा कहना असद्भूत व्यवहार है।

ज्ञानी के चारित्रगुण की पर्याय में पूर्णता नहीं है; अतः उसे राग के दुःख का वेदन है। – इसप्रकार शास्त्र में कहा जाता है; परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान में विकास हुआ है। ज्ञानी उस ज्ञान का वेदन करता हुआ तथा राग का वेदन न करता हुआ उसकी पर्याय में राग का ज्ञान होना निश्चय है और राग, पुण्य और अधर्म है; उसका वेदन (अपनापन)

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४१७ २. वही, पृष्ठ १४१७

ज्ञान में नहीं है। ऐसी स्वसामर्थ्य ज्ञानी की पर्याय में प्रगट हुई है।[१]

निश्चय से सम्यग्ज्ञानी केवली को नहीं जानते। यदि वे निश्चय से केवली को जानें तो केवली का आत्मा और उनका आत्मा एकमेक हो जावेगा। केवली का ज्ञान ज्ञानी की आत्मा में होता है, यह निश्चय है; परन्तु वे ज्ञानी केवली को जानते हैं – ऐसा कहना व्यवहार है; क्योंकि केवली पर हैं।

कोई कहता है कि केवली भगवान तो शुद्ध हैं; उन्हें पर क्यों कहा है?

उनसे कहते हैं कि इस आत्मा से केवली भगवान भिन्न हैं; क्योंकि केवली के कारण आत्मा में ज्ञान नहीं होता; परन्तु उन्हें अपने कारण पर का ज्ञान होता है – ऐसा कहना व्यवहार है।

भाई! यह बात अत्यन्त शान्तचित्त से सुनना चाहिए। केवली लोक और अलोक को व्यवहार से जानते हैं; परन्तु आत्मा को व्यवहार से नहीं जानते। आत्मा, आत्मा को नहीं जानता है – यह बात नहीं है; परन्तु आत्मा आत्मा को व्यवहार से नहीं जानता है। – यह बात है।[२]''

१६६वीं गाथा में यह कहा था कि केवली भगवान निश्चयनय से आत्मा को जानते हैं, पर को नहीं ह्न यदि कोई व्यक्ति निश्चयनय की मुख्यता से ऐसा कथन करता है तो उसमें कोई दोष नहीं है। अब इस गाथा में ठीक उससे विरुद्ध कहा जा रहा है कि यदि कोई व्यक्ति व्यवहारनय की मुख्यता से यह कहता है कि व्यवहारनय से केवली भगवान मात्र पर को जानते हैं, लोकालोक को जानते हैं, आत्मा को नहीं तो उनका यह कथन भी पूर्णतः निर्दोष है।

यद्यपि निश्चय और व्यवहारनय की मुख्यता से किये दोनों कथन अपनी-अपनी दृष्टि से पूर्णतः सत्य हैं; तथापि प्रमाण की दृष्टि से केवली भगवान स्व और पर दोनों को एक साथ एक समय में देखते-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४१८
२. वही, पृष्ठ १४१९-१४२०

जानते हैं ह्न यह कथन पूर्णतः सत्य है। जैनदर्शन की कथनपद्धति नहीं जानने से उक्त कथनों में अज्ञानीजनों को विरोध भासित होता है; पर स्याद्वाद शैली के विशेषज्ञों को इसमें कोई विरोध भासित नहीं होता।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा स्वामी समन्तभद्र द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अपरवक्त्र)

स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञलांछनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते।।८१।।[१]

(हरिगीत)

उत्पादव्ययध्रुवयुत जगत यह वचन हे वदताम्बरः।
सर्वज्ञता का चिह्न है हे सर्वदर्शि जिनेश्वरः।।८१।।

हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ मुनिसुव्रतनाथ भगवान ! 'जंगम और स्थावर यह चराचर जगत प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है' ह्न ऐसा यह आपका वचन आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''हे भगवन्! वास्तव में आप ही श्रेष्ठ हैं। हे नाथ! आप सर्वज्ञ हैं। कोई कहे आपने कैसे जाना कि भगवान सर्वज्ञ हैं, तो उससे कहते हैं कि भूत पर्याय का व्यय और नवीन पर्याय का उत्पाद और वस्तु अपेक्षा ध्रौव्य – इसप्रकार द्रव्य प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्यरूप त्रयात्मक है तथा एक-एक गुण में भी उत्पादव्ययध्रुवपना है। इसप्रकार सम्पूर्ण जगत उत्पादव्ययध्रुवलक्षणवाला है और एक समय में सम्पूर्ण है। एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों आ जाते हैं। जिसे इसका पता मिला, वह सर्वज्ञ है। हे भगवान! आपकी वाणी में आता है कि एक समय में वस्तु परिपूर्ण है और वस्तु त्रिकाल स्वतंत्र है। जब ऐसी सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशिका वाणी भी अन्य के नहीं होती तो फिर सर्वज्ञता की बात ही

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : भगवान मुनिसुव्रतनाथ की स्तुति, छन्द ११४

कहाँ रही? अतः हे भगवान्! तुम्हारे अलावा अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं है।[१]''

आचार्य समन्तभद्र के उक्त छन्द में यह कहा गया है कि यह सम्पूर्ण जगत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है ह्न आपका यह कथन आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है; क्योंकि सर्वज्ञ के अलावा कोई भी डंके की चोट यह बात नहीं कह सकता। सर्वज्ञ भगवान के प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तु का ऐसा स्वरूप आता है। क्षयोपशम ज्ञानवाले तो इसे सर्वज्ञ के वचनों के अनुसार लिखित आगम और अनुमान से ही यह जानते हैं। आगम और अनुमान प्रमाण परोक्षज्ञान हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः ।।२८५।।

(हरिगीत)

रे केवली भगवान जाने पूर्ण लोक-अलोक को।
पर अनघ निजसुखलीन स्वातम को नहीं वे जानते ।।
यदि कोई मुनिवर यों कहे व्यवहार से इस लोक में।
उन्हें कोई दोष न बोलो उन्हें क्या दोष है।।२८५।।

'तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञदेव निश्चयनय से सम्पूर्ण लोक को जानते हैं और वे पुण्य-पाप से रहित अनघ, निजसुख में लीन एक अपनी आत्मा को नहीं जानते' ह्न ऐसा कोई मुनिराज व्यवहारमार्ग से कहे तो उसमें उनका कोई दोष नहीं है।

उक्त छन्द में उसी बात को दुहराया गया है; जो गाथा और उसकी टीका में कही गई है। अतः उक्त छन्द में प्रतिपादित परम तत्त्व के संदर्भ में यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२१

नियमसार गाथा १७०

विगत गाथा में केवली भगवान के संदर्भ में व्यवहारनय के कथन को प्रस्तुत किया गया था। अब इस गाथा में 'जीव ज्ञानस्वरूप है' यह सिद्ध करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ।।१७०।।

(हरिगीत)

ज्ञान जीवस्वरूप इससे जानता है जीव को।
जीव से हो भिन्न वह यदि नहीं जाने जीव को।।१७०।।

जीव का स्वरूप ज्ञान है, इसलिए आत्मा आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में 'जीव ज्ञानस्वरूप है' ह्न इस बात को तर्क की कसौटी पर कसकर सिद्ध किया गया है।

प्रथम तो ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; इसकारण जो अखण्ड-अद्वैत स्वभाव में लीन है, निरतिशय परम भावना से सनाथ है, मुक्ति सुन्दरी का नाथ है और बाह्य में जिसने कौतूहल का अभाव किया है; ऐसे निज परमात्मा को कोई भव्य आत्मा जानता है। वस्तुतः यह स्वभाववाद है। इसके विपरीत विचार (वितर्क) विभाववाद है, यह प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है।

यदि कोई कहे कि यह विपरीत विचार (वितर्क) किसप्रकार है ? तो कहते हैं कि वह इसप्रकार है ह्न

पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा को आत्मा वस्तुतः जानता नहीं है, आत्मा तो मात्र स्वरूप में ही अवस्थित रहता है।

जिसप्रकार उष्णता स्वरूप में स्थित अग्नि को क्या अग्नि जानती है?

नहीं जानती। उसीप्रकार ज्ञान-ज्ञेय संबंधी विकल्प के अभाव के कारण यह आत्मा तो मात्र आत्मा में स्थित रहता है, आत्मा को जानता नहीं है।

शिष्य के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्राथमिक शिष्य ! क्या यह आत्मा अग्नि के समान अचेतन है ?

अधिक क्या कहें ? यदि उस आत्मा को ज्ञान नहीं जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति अर्थक्रियाकारी[1] सिद्ध नहीं होगा; इसलिए वह ज्ञान, आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा। यह बात अर्थात् ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता स्वभाववादियों को इष्ट (सम्मत) नहीं है। अत: यही सत्य है कि ज्ञान आत्मा को जानता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि जिसप्रकार अग्नि स्वयं को नहीं जानती; परन्तु परपदार्थों को प्रकाशित करती है; उसीप्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न वस्तु है; अतः ज्ञान आत्मा को नहीं जानता।[2]

यहाँ गुण-गुणी की अभेदता की बात है। आत्मा चैतन्य गुण से भरा हुआ है और पुण्य-पाप से रहित ज्ञानस्वभावी है।

जिसप्रकार यदि कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी हाथ में न ले तो लकड़ी काटने की क्रिया नहीं हो सकती; उसीप्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न हो तो वह जानने की क्रिया नहीं कर सकता।[3]

देवदत्त कुल्हाड़ी द्वारा काट सकता है या नहीं - यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है; परन्तु जिसप्रकार कुल्हाड़ी और देवदत्त भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा भिन्न नहीं हैं। यहाँ तो कहते हैं कि जिसप्रकार मनुष्य कुल्हाड़ी पकड़े तो उसके द्वारा काटने की क्रिया होती है; कुल्हाड़ी देवदत्त से भिन्न हो तो काटने की क्रिया नहीं होती। उसीप्रकार आत्मा ज्ञान का पिण्ड है। ज्ञान आत्मा को जानने का काम न करे तो कुल्हाड़ी

१. प्रयोजनभूत क्रिया करने में समर्थ
२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२३
३. वही, पृष्ठ १४२५

की तरह आत्मा और ज्ञान भिन्न सिद्ध होते हैं। जिससे गुण-गुणी की एकता सिद्ध नहीं होती और स्वभाववादियों को गुण-गुणी की सर्वथा भिन्नता मान्य नहीं है। अतः यह निर्णय करना चाहिए कि ज्ञान आत्मा को जानता है।

जिसप्रकार अपने घर में रुपया-पैसा हों; पर वे व्यापार में काम न आवें तो उन्हें पूँजी नहीं कहा जाता; उसीप्रकार **ज्ञान आत्मा की पूँजी है। वह अपने को न जाने तो वह आत्मा पूँजी रहित सिद्ध होता है, अचेतन कहलाता है। इससे आत्मा अचेतन नहीं होता; परन्तु अपनी मान्यता में जड़ हो जाता है** अर्थात् ऐसे जीव को धर्म की प्राप्ति नहीं होती।[1]''

इस गाथा और उसकी टीका में युक्ति के आधार से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है; अत: वह स्वयं को जानता है। प्राथमिक शिष्य का कहना यह है कि जिसप्रकार अग्नि अपने उष्णतारूप स्वभाव में अवस्थित तो रहती है, पर स्वयं को जानती नहीं है; उसीप्रकार यह आत्मा भी अपने ज्ञानस्वभाव में अवस्थित तो रहता है, पर स्वयं को जानता है। शिष्य को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई ! आत्मा अग्नि के समान अचेतन नहीं है, आत्मा तो चेतन पदार्थ है। अत: यह अग्नि का उदाहरण घटित नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसप्रकार कुल्हाड़ी रहित देवदत्त लकड़ी को काटने में समर्थ नहीं होता; क्योंकि वह कुल्हाड़ी से भिन्न है; उसीप्रकार स्वयं को जानने में असमर्थ आत्मा भी ज्ञान से भिन्न सिद्ध होगा। यह तो आप जानते ही हैं कि ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता स्याद्वादी जैनियों को स्वीकृत नहीं है। अत: यही सत्य है कि स्वभाव में अवस्थित आत्मा आत्मा को जानता है, ज्ञान आत्मा को जानता है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा गुणभद्रस्वामी द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२५

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानस्वभाव: स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युति: ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ।।८२।।[१]

(दोहा)

ज्ञानस्वभावी आतमा स्वभावप्राप्ति है इष्ट।
अत: मुमुक्षु जीव को ज्ञानभावना इष्ट ।।८२।।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। स्वभाव की प्राप्ति अच्युति (अविनाशी दशा) है। अत: अच्युति को चाहनेवाले जीव को ज्ञान की भावना भानी चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**यहाँ कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और स्वभाव की प्राप्ति अच्युति है; अतः अच्युतदशा को चाहनेवाले ज्ञान की भावना करें।**

ज्ञान-स्वभावी आत्मा के अवलंबन से होनेवाला मोक्ष अविनाशी है। पुण्य-पाप नाशवान हैं, वे च्युत अर्थात् आत्मा की भ्रष्ट दशायें हैं। आत्मा अखण्डानन्दस्वरूप है, उसमें एकाग्र होना धर्म है; अतः धर्म के इच्छुक आत्मा में एकाग्र हों तथा पुण्य-पाप से एकाग्रता छोड़ें। यहाँ धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन है।

यहाँ ज्ञान की भावना भाने को कहा अर्थात् शास्त्र की, पर की भावना भाने की बात नहीं की; परन्तु अन्तर में विराजमान अखण्ड ज्ञानस्वभावी गुणी में एकाग्र होने की बात की है।[२]

जो क्रिया सिद्धदशा को प्राप्त कराये और नाश न हो – वह क्रिया सच्ची है। पुण्य-पाप अच्युत क्रिया नहीं हैं। दृष्टि में गुण-गुणी की अभेदता करना धर्म की क्रिया है। पर को करने और भोगने की सामर्थ्य आत्मा में नहीं है। पुण्य-पाप की क्रिया से धर्म नहीं होता, **धर्म तो अन्तर-भावना के अवलंबन से होता है। स्वभाव में एकाग्रता करना**

१. आत्मानुशासन, छन्द १७४

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२६

ही धार्मिक क्रिया है। शेष सभी क्रियायें चार गति में भटकाने वाली हैं। अरे रे! जब तक पूर्णदशा प्राप्त नहीं होती, तबतक शुभभाव की क्रिया होती तो है; परन्तु वह धर्म नहीं है। यही सर्वज्ञ कथित मार्ग है भाई![१]''

उक्त छन्द का भाव यह है कि ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा को स्वभाव की प्राप्ति, अच्युति अर्थात् अविनाशी दशा है। उक्त अविनाशी दशा की प्राप्ति करने की भावना रखनेवालों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे सदा स्वभाव की प्राप्ति की भावना रखें।।८२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूपं
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम् ।
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ।।२८६ ।।

(रोला)

शुद्धजीव तो एकमात्र है ज्ञानस्वरूपी।
अत: आतमा निश्चित जाने निज आतम को।।
यदि साधक न जाने स्वातम को प्रत्यक्ष तो।
ज्ञान सिद्ध हो भिन्न निजातम से हे भगवन्।।२८६।।

ज्ञान तो शुद्धजीव का स्वरूप ही है। अत: हमारा आत्मा भी अभी साधक दशा में एक अपने आत्मा को अवश्य जानता है। यदि यह ज्ञान प्रकट हुई सहज दशा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से भिन्न ही सिद्ध होगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''साधकदशा में यद्यपि पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं; तथापि

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२७

उनकी मुख्यता नहीं होती। आत्मा की ही मुख्यता होती है। मुनिराज उपदेश देते हैं, शास्त्र लिखते हैं; परन्तु उनके कर्त्ता वे नहीं हैं; क्योंकि ये तो जड़ के कार्य हैं और जड़ के कारण से होते हैं। मुनिराज को बोलने का, शास्त्र लिखने का राग आता है; परन्तु उसकी भी उनके मुख्यता नहीं है। वे उस शुभराग को जानते तो हैं; पर निरंतर अन्तर स्वभाव की ही महिमा वर्तती है। इसी का नाम धर्म है। इसप्रकार साधकदशा में निश्चय-व्यवहार दोनों होते हैं। **अकेला निश्चय हो तो केवलज्ञान हो जाये और अकेला व्यवहार हो तो मिथ्यादृष्टि होने का प्रसंग आता है।** मुनिराज आत्मा को निश्चय से जानते हैं, तब व्यवहार के विकल्प भी होते हैं; परन्तु उनकी मुख्यता नहीं होती; क्योंकि वे राग और व्यवहार को तन्मय होकर नहीं जानते; पर आत्मा को तन्मय होकर जानते हैं।[1]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि ज्ञान शुद्ध जीव का स्वरूप है। अत: यह आत्मा साधकदशा में स्वयं को अवश्य जानता है। यदि यह ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।।२८६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा कहा भी है'** ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो।।८३।।[2]

(दोहा)

ज्ञान अभिन है आत्म से अत: जाने निज आत्म।
भिन्न सिद्ध हो वह यदि न जाने निज आत्म।।८३।।

ज्ञान जीव से अभिन्न है; इसलिए आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२७-१४२८ २. गाथा कहाँ की है, इसका उल्लेख नहीं है।

''यह आत्मा कर्म, शरीरादि से आज भी भिन्न है। आत्मा में पुण्य-पाप होते हैं; पर वे त्रिकालस्वभाव से भिन्न हैं; पर वह स्वभाव ज्ञान से भिन्न नहीं है। अतः ज्ञानी ज्ञान से आत्मा को जानता है। ज्ञान की पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होती है। वह **आत्मा को जानें तो उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं; परन्तु पर के ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते।** ज्ञानी को जब तक पूर्णदशा की प्राप्ति नहीं होती; तबतक वह राग को जानता तो है; पर उसकी उसे मुख्यता नहीं होती।

यह बात समझे बिना सच्ची सामायिक भी नहीं होती। सच्ची सामायिक तो मुक्ति प्रदान करती है। यह सामायिक कब होगी ?

आत्मा पर से भिन्न है, पुण्य-पाप विकार हैं, इनसे रहित ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान करके अन्तर लीनता होने पर शान्ति और आनन्द की लहरें आना सामायिक है। आत्मा ज्ञान और अमृत का रसकन्द है। उनसे आत्मा भिन्न नहीं है; परन्तु पर से और राग से अत्यन्त भिन्न है। जब ऐसा भान होता है, तब सच्ची सामायिक होती है।

जब भरत चक्रवर्ती लड़ाई करने गये, तब भी उन्हें आत्मा का भान था। उनके ९६वें हजार रानियाँ थीं; फिर भी 'मैं ज्ञान हूँ' - ऐसा भान उन्हें निरंतर वर्तता था; अतएव उसी भव में मोक्ष गये और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि निरतिचार अट्ठाईस मूलगुण पालते हों, हजारों रानियों और राजपाट छोड़कर दीक्षा ली हो अथवा बालब्रह्मचारी हों; पर शुभराग से धर्म माने तो वे अज्ञानी ही हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि अपने आत्मा में एकाग्रता न हो तो गुण-गुणी की एकता नहीं होती; अतः ज्ञानी जीव आत्मा को जानते हैं।[1]''

इस गाथा में भी मात्र इतना ही कहा गया है कि **ज्ञान जीव से अभिन्न है; इसलिए वह अपने को जानता है। यदि वह ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।।८३।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२९-१४३०

नियमसार गाथा १७१

विगत गाथा में ज्ञान को जीव का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में आत्मा और ज्ञान को अभेद बताया जा रहा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्र

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि।।१७१।।

(हरिगीत)

आत्मा है ज्ञान एवं ज्ञान आतम जानिये।
संदेह न बस इसलिए निजपरप्रकाशक ज्ञान दृग।।१७१।।

आत्मा को ज्ञान जानो और ज्ञान आत्मा है ह्र ऐसा जानो। इसमें संदेह नहीं है। इसलिए ज्ञान तथा दर्शन स्वपरप्रकाशक हैं।

इस गाथा के भाव को पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्र

''सम्पूर्ण परद्रव्यों से पराङ्मुख, स्वस्वरूप जानने में समर्थ, सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा को हे शिष्य ! तुम जानो और यह भी जानो कि आत्मा विज्ञानस्वरूप है। ज्ञान और दर्शन ह्र दोनों स्वप्रकाशक हैं। तत्त्व ऐसा ही है, इसमें संदेह नहीं है।''

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''भगवान तीर्थंकरदेव की कही हुई बात ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि चिदानन्द भगवान आत्मा देहदेवल में ज्ञानरूप से सदा विराजमान है। जो गुण है, वही गुणी है और जो गुणी है, वही गुण है – हे भव्य ! तुम ऐसा जानो। जो गुड़ है, वही मिठास है और जो मिठास है, वही गुड़ है। जो शिष्य ऐसा नहीं जानता है, उसे ऐसा जानने के लिए यहाँ कहा जा रहा है। आत्मा ज्ञानरूप है। पुण्य-पाप आत्मा नहीं हैं। कर्म, शरीरादि तो पर हैं। **पुण्य-पाप और आत्मा में अनित्यतादात्म्य संबंध है। ज्ञान और आत्मा नित्यतादात्म्य हैं। आत्मा का शरीर अथवा कर्म के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है। भगवान ने आत्मा और ज्ञान को एकाकार ही बताया है।** इसमें शंका

नहीं करना चाहिए। ज्ञान पर में एकाकार नहीं है। आत्मा स्व-पर को जाननेवाला चिदानन्द दीपक है।[१]

ज्ञानमयी आत्मा होने से वह स्व-पर प्रकाशक है और उसके ज्ञान-दर्शन दोनों गुण भी स्व-पर प्रकाशक हैं। – इसमें संदेह नहीं है।

कुछ लोग ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को ही देखता है – ऐसा एकान्त से मानते हैं। यहाँ उनका निराकरण करते हुए कहा है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन से भरा है तथा शरीर व कर्म से भिन्न है; अतः उसकी दृष्टि छोड़ो एवं ज्ञान-दर्शन स्व-पर प्रकाशक हैं – ऐसा निर्णय करो, इसमें जरा भी सन्देह मत करो।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही स्पष्ट किया गया है कि **ज्ञान, दर्शन और आत्मा तीनों स्व-परप्रकाशक हैं।** तीनों अभेद-अखण्ड ही हैं। इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है।।१७१।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्र

(अनुष्टुभ्)

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम्।।२८७।।

(सोरठा)

आतम दर्शन-ज्ञान दर्श-ज्ञान है आतमा।
यह सिद्धान्त महान स्वपरप्रकाशे आतमा।।२८७।।

आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप और ज्ञान-दर्शन को आत्मारूप जानो। स्व और पर ह्र ऐसे तत्त्वों को अर्थात् समस्त पदार्थों को आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा है कि आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप और ज्ञान-दर्शन को आत्मारूप जानो। तात्पर्य यह है कि **आत्मा तथा ज्ञान और दर्शन ह्र सब एक ही हैं। सभी स्वपरपदार्थों को यह आत्मा भलीभाँति प्रकाशित करता है।।२८७।।** •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४३१-१४३२ २. वही, पृष्ठ १४३३

नियमसार गाथा १७२

विगत गाथा में ज्ञान और आत्मा में अभेद बताया था और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के इच्छा का अभाव है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो।।१७२।।

(हरिगीत)

जानते अर देखते इच्छा सहित वर्तन नहीं।
बस इसलिए हैं अबंधक अर केवली भगवान वे।।१७२।।

जानते और देखते हुए भी केवली भगवान के इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिए उन्हें केवलज्ञानी कहा है और इसीलिए उन्हें अबंध कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के इच्छा का अभाव होता है ह्न यह कहा गया है।

भगवान अरहंत परमेष्ठी सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले, शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी, उन परम भट्टारक केवली भगवान को मनप्रवृत्ति का अभाव होने से इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता, इसलिए वे भगवान केवलज्ञानीरूप से प्रसिद्ध हैं और उस कारण से वे भगवान अबन्धक हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''वीतरागदशा तो बारहवें गुणस्थान में ही हो जाती है; अतः भगवान को मोक्ष की इच्छा भी नहीं होती है। जो ऐसा मानता है कि

भगवान के इच्छा होती है, वह वीतराग के स्वरूप को नहीं जानता है। भगवान के भावमन (क्षायोपशमिक ज्ञान) नहीं है। उनके हृदय में द्रव्यमन है; परन्तु उसमें इच्छापूर्वक उपयोग का जुड़ान नहीं है। वे अन्य जीवों को दीक्षा, शिक्षा, इच्छापूर्वक नहीं देते। मात्र जानने-देखने का स्वभाव होने से समस्त लोकालोक को जानते और देखते हैं। इच्छा हो तभी जानें - ऐसा नहीं है। उनके योग का कंपन होता है। एक समय में कर्म, नोकर्म आते-जाते हैं। अतः भगवान के बंध नहीं कहा है। योग के कंपन के समय मन निमित्त है; परन्तु भगवान के इच्छा नहीं होती; अतः इसमें मन निमित्त नहीं है। अतः भगवान के बंध नहीं होता।[1]

निश्चयनय का विषय तो त्रिकाली स्वभाव है, उसमें से प्रगट होने वाली पूर्ण केवलज्ञानरूपी दशा व्यवहार है। वह शुद्ध और नवीन है; अतः व्यवहार है - ऐसा कहकर केवली के नय होते हैं, यह नहीं सिद्ध कर रहे; क्योंकि **केवली के समझने-समझाने का व्यवहार नहीं होता।**

नय तो श्रुतज्ञानी के होते हैं। साधकजीव केवलज्ञानरूप पूर्णदशा को लक्ष में लेता है, वह पूर्णदशा शुद्ध है और अखण्ड आत्मा में शुद्ध पर्याय का भेद किया; अतः वह शुद्धसद्भूत व्यवहार है। निश्चय में एकरूपता होती है। त्रिकाली तत्त्व अभेद एकरूप है; अतः निश्चयनय का विषय है। साधकजीव जब निज स्वभाव का अवलंबन लेता है, तब शुद्धदशा प्रगट होती है। वह व्यवहार का तो ज्ञान करता है; परन्तु आश्रय तो त्रिकाली निश्चयस्वभाव का करता है।

त्रिकाली द्रव्य के लक्ष से जो शुद्धपर्याय प्रगट हुई, वह निश्चयनय का विषय नहीं है, वह व्यवहार का विषय है। ज्ञानी को उसका आश्रय नहीं होता है।[2]

इसीप्रकार महावीर भगवान के समोशरण में गौतम आये; अतः उनकी वाणी खिरी - ऐसा नहीं है। भगवान को इच्छा नहीं थी कि मैं

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४३६
२. वही, पृष्ठ १४३७

गौतम को उपदेश दूँ। भगवान तो तीन काल और तीन लोक की बात को जान ही रहे हैं।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि यद्यपि केवली भगवान शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से अर्थात् अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय से सम्पूर्ण जगत को देखते-जानते हैं; तथापि उनके मन की प्रवृत्ति का अभाव होने से, भाव मन के अभाव होने से इच्छा का अभाव होता है, इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता है; यही कारण है कि सर्वज्ञरूप प्रसिद्ध उन केवली भगवान को बंध नहीं होता।

इच्छा के अभाव में भी उनके द्वारा जो योग का प्रवर्तन होता है, उसके कारण होनेवाले आस्रव और एक समय का प्रदेश बंध होता है; मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण उस बंध में स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ने से एक समय में ही उसकी निर्जरा हो जाती है; इसलिए वे अबंधक ही हैं ।।१७२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ।।८४।।[२]

(हरिगीत)

सर्वार्थ जाने जीव पर उनरूप न परिणमित हो।
बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो।।८४।।

केवलज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उनरूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न भी नहीं होता; इसलिए उसे अबंधक कहा है।

इस गाथा में यही बात कही गई है कि **सर्वज्ञ भगवान सबको जानते हुए भी जानने में आते हुए पदार्थोंरूप परिणमित नहीं होते, उन्हें ग्रहण**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४४०
२. प्रवचनसार, गाथा ५२

नहीं करते और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न नहीं होते; इसलिए उन्हें अनन्त संसार बढानेवाला बंध भी नहीं होता।।८४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ।।२८८।।

(हरिगीत)

सहज महिमावंत जिनवर लोक रूपी भवन में।
थित सर्व अर्थों को अरे रे देखते अर जानते।।
निर्मोहता से सभी को नित ग्रहण करते हैं नहीं।
कलिमल रहित सद्ज्ञान से वे लोक के साक्षी रहें।।२८८।।

सहज महिमावंत देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव लोकरूपी भवन में स्थित सभी पदार्थों को जानते-देखते हुए भी, मोह के अभाव के कारण किसी भी पदार्थ को कभी भी ग्रहण नहीं करते; परन्तु ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेश के नाशक वे जिनेन्द्रदेव सम्पूर्ण लोक के एकमात्र साक्षी हैं, केवल ज्ञाता-दृष्टा हैं।

इस कलश में यही कहा गया है कि **सर्वज्ञ-वीतरागी जिनदेव जगत के सभी पदार्थों को देखते-जानते हैं; फिर भी मोह के अभाव में किसी भी परपदार्थ को ग्रहण नहीं करते। वे तो जगत के एकमात्र साक्षी हैं, सहज ज्ञाता-दृष्टा ही हैं।।२८८।।** •

> शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारणभूत आस्रव-बंध नहीं होते। रागांश के शेष रहने से जो थोड़े-बहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्बंध कहा गया है। **ह्न सारसमयसार, पृष्ठ-१२**

नियमसार गाथा १७३–१७४

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान के इच्छा का अभाव है और अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि इच्छा का अभाव होने से उन्हें बंध नहीं होता।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ।।१७३।।
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स स बंधकारणं होइ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ।।१७४।।

(हरिगीत)

बंध कारण जीव के परिणामपूर्वक वचन हैं।
परिणाम विरहित वचन केवलिज्ञानियों को बंध न ।।१७३।।
ईहापूर्वक वचन ही हों बंधकारण जीव को।
ईहा रहित हैं वचन केवलिज्ञानियों को बंध न ।।१७४।।

परिणामपूर्वक होनेवाले वचन जीव के बंध के कारण हैं। केवलज्ञानी के परिणाम रहित वचन होता है; इसलिए उन्हें वस्तुत: बंध नहीं होता।

इच्छापूर्वक वचन जीव के बंध के कारण हैं। केवलज्ञानी को इच्छा रहित वचन होने से उन्हें वस्तुत: बंध नहीं है।

ये दोनों गाथायें लगभग एक समान ही हैं। इनमें परस्पर मात्र इतना ही अन्तर है कि प्रथम गाथा में प्राप्त परिणामपूर्वक वचन के स्थान पर दूसरी गाथा में ईहापूर्वक वचन कर दिया गया है। भाव दोनों का समान ही है।

इन गाथाओं के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ वस्तुत: केवलज्ञानी को बंध नहीं होता ह्न यह कहा गया है।

सम्यग्ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी जीव कभी भी स्वबुद्धिपूर्वक अर्थात्

स्वमनपरिणामपूर्वक वचन नहीं बोलते; क्योंकि केवली भगवान अमनस्क (मन रहित) होते हैं ह्न ऐसा शास्त्र का वचन है। इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि जीवों के मनपरिणतिपूर्वक होनेवाले वचन बंध का कारण होते हैं ह्न ऐसा अर्थ है। केवली भगवान के मनपरिणतिपूर्वक वचन नहीं होते।

इसीप्रकार इच्छा सहित जीव को इच्छापूर्वक होनेवाले वचन भी बंध के कारण होते हैं। समस्त लोग हृदयकमल के आह्लाद के कारणभूत, केवली भगवान के मुखारबिन्द से निकली हुई दिव्यध्वनि तो इच्छा रहित है; अत: केवलज्ञानी को बंध नहीं होता।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यद्यपि ऐसा कहा है कि दिव्यध्वनि केवली के मुखकमल से निकलती है; परन्तु वास्तव में तो भगवान के होंठ हिले बिना, इच्छा बिना सम्पूर्ण शरीर से दिव्यध्वनि निकलती है। यह दिव्यध्वनि सभी जीवों को आनन्द देनेवाली कही गई है; फिर भी जो जीव स्वयं अपनी पर्याय में भेदज्ञान करते हैं, उनको वाणी निमित्त होती है। चूंकि मिथ्यादृष्टि जीव को भेदज्ञान नहीं होता है; अतः उसे दिव्यध्वनि निमित्त भी नहीं है; तथापि दिव्यध्वनि को समस्त लोगों को आनन्ददायिनी कहा जाता है।[१]

यहाँ कहा जा रहा है कि मन परिणति केवली के नहीं है; अतः उन्हें बंध भी नहीं होता। 'मन नहीं होने से बंध नहीं होता है' – ऐसा कहना गलत है; क्योंकि मन तो एकेन्द्रिय जीव के भी नहीं होता; अतः उसे भी बंध नहीं होना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं है। वहाँ भाव परिणति क्षायोपशम पर्याय तो है ही। उसकी क्षायोपशमिक पर्याय में शरीरादि की एकत्वबुद्धि के परिणाम हैं; अतः वहाँ बंध भी होता है। चिदानन्द के ज्ञानपूर्वक स्वरूपलीन परिणति जिसे प्रगट होती है; उसे राग नहीं होने से बंध नहीं होता।[२]''

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६३९   २. वही, पृष्ठ ६४०

इन दोनों गाथाओं और उनकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि परिणामपूर्वक और इच्छापूर्वक वचन बंध के कारण होते हैं। केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि परिणाम रहित और इच्छा रहित होने के कारण उन्हें बंध नहीं होता ।।१७३-१७४।।

इन गाथाओं की टीका लिखने के उपरान्त टीकाकार मुनिराज तीन छन्द लिखते हैं, जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव
तस्मादेष: प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता ।
अस्मिन् बंध:कथमिव भवेद् द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम् ।।२८९।।

(हरिगीत)

ईहापूर्वक वचनरचनारूप न बस इसलिए।
प्रकट महिमावंत जिन सब लोक के भरतार हैं।।
निर्मोहता से उन्हें पूरण राग-द्वेषाभाव है।
द्रव्य एवं भावमय कुछ बंध होगा किस तरह? ।।२८९।।

केवली भगवान के इच्छापूर्वक वचनों का अभाव होने से वे प्रगट महिमावंत हैं, समस्त लोक के एकमात्र नाथ हैं। मोह के अभाव के कारण समस्त राग-द्वेष के जाल का अभाव होने से उन्हें द्रव्यबंध और भावबंध कैसे हो सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि **न तो मोह-राग-द्वेषरूप भावबंध होता है और न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है।**

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''केवली भगवान के इच्छा नहीं है; अतः वे महिमावन्त हैं। **जहाँ तक इच्छा होती है; वहाँ तक आत्मा पूर्ण महिमावंत नहीं होता।** वीतरागता-विज्ञानता की ही पूर्ण महिमा है। भगवान लोक के नाथ हैं। **जो जीव सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ करता है, उसे भगवान निमित्त हैं; अतः वे उसके नाथ कहलाते हैं। वे मिथ्यादृष्टि के नाथ नहीं हैं; परन्तु**

उपचार से सभी के नाथ कहलाते हैं। ऐसे केवली के मोह का नाश होने से उन्हें द्रव्यबंध और भावबंध नहीं होता।[१]''

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि प्रकट महिमावंत, समस्त लोक के एकमात्र नाथ केवली भगवान के इच्छापूर्वक वचनों का अभाव है। मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण उन केवली भगवान को न तो द्रव्यबंध होता है और न भावबंध होता है ।।२८९।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्ध:
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्‌गतं वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्ष:
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ।।२९० ।।

(हरिगीत)

अरे जिनके ज्ञान में सब अर्थ हों त्रयलोक के।
त्रयलोकगुरु चतुकर्मनाशक देव हैं त्रयलोक के ।।
न बंध है न मोक्ष है न मूर्छा न चेतना।
वे नित्य निज सामान्य में ही पूर्णतः लवलीन हैं ।।२९०।।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश किया है, जो तीन लोक के गुरु हैं, समस्त लोक और उसमें स्थित पदार्थ समूह जिनके ज्ञान में स्थित हैं; वे जिनेन्द्र भगवान एक ही देव हैं, अन्य कोई नहीं। उन्हें न बंध है, न मोक्ष है, उनमें न तो कोई मूर्च्छा है, न चेतना; क्योंकि उनके द्रव्य सामान्य का आश्रय है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिनभगवान तीन लोक के गुरु हैं अर्थात् तीन लोक में तो सिद्ध, ज्ञानी और मिथ्यादृष्टि सभी आ गये तथा भगवान से तो सिद्ध बड़े हैं; अतः वे उनके गुरु नहीं हैं और मिथ्यादृष्टि के भी गुरु नहीं हैं, अभव्यों के

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४४७-१४४८

भी गुरु नहीं हैं। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है कि जिसने आत्मा की ज्ञान-दर्शनादि की निर्मल पर्यायें प्रगट की हैं; उन जीवों के लिए भगवान! आप गुरु हो। आप साधकों के साध्य हो। इन सभी का उपचार करके आपको तीन लोक का गुरु कहा जाता है।[१]

केवली भगवान के ज्ञान में सम्पूर्ण लोक स्थित है। यहाँ लोक की बात की है; पर वास्तव में भगवान एक समय में लोक-अलोक दोनों को जानते हैं। अतः वे ज्ञान में स्थित हैं - ऐसा कहते हैं। वास्तव में लोकालोक ज्ञान में नहीं आता; परन्तु केवलज्ञान सबको जानता है। ज्ञान के खिले हुए स्व-पर प्रकाशकस्वभाव में सम्पूर्ण लोक उतर गया है, वह ज्ञान में ज्ञात होने के कारण स्थित कहा जाता है।[२]''

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि घातिकर्म के नाशक, समस्त पदार्थों के ज्ञायक, तीन लोक के गुरु हे जिनेन्द्र भगवान ! आप ही एकमात्र देव हैं। ऐसे देव को न तो बंध है, न मोक्ष है; उनमें न कोई मूर्च्छा है और न चेतना है; क्योंकि उनके तो द्रव्यसामान्य का ही आश्रय है।।२९०।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपंचो
रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः।
एषः श्रीमान स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात्।।२९१।।

(हरिगीत)

धर्म एवं कर्म का परपंच न जिनदेव में।
रे रागद्वेषाभाव से वे अतुल महिमावंत हैं।।
वीतरागी शोभते श्रीमान् निज सुख लीन हैं।
मुक्तिरमणी कंत ज्ञानज्योति से हैं छा गये।।२९१।।

जिनेन्द्र भगवान में धर्म और कर्म का प्रपंच नहीं है। तात्पर्य यह है कि उनमें साधक दशा में होनेवाले शुद्धि-अशुद्धि के भेद-प्रभेद नहीं

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४४९ २. वही, पृष्ठ १४५०

है। राग के अभाव के कारण वे जिनेन्द्र भगवान अतुल महिमावंत हैं और वीतरागभावरूप से विराजते हैं। वे श्रीमान् शोभावान भगवान निजसुख में लीन हैं, मुक्तिरमणी के नाथ हैं और ज्ञानज्योति द्वारा लोक के विस्तार में चारों ओर से पूर्णतः छा गये हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''तेरहवें गुणस्थान में विराजमान केवली को मैं धर्म करूँ - ऐसी साधकदशा नहीं है। पूर्णदशा हो गई है; अतः धर्म का प्रपंच अर्थात् विस्तार नहीं है और कर्म का विस्तार भी नहीं है। निचली दशा में धर्म और अधर्म का विस्तार होता है - ऐसा भेद साधकदशा में होता है, केवली के नहीं होता। साधकदशा में चारित्र पूर्ण नहीं है अर्थात् धर्म की पर्याय में तारतम्यता होती है और धर्म का अंश क्रमशः बढ़ता जाता है। - ऐसी अनेकता केवली में नहीं है। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में चारित्र का अंश बढ़कर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है। ऐसा विस्तार तेरहवें गुणस्थान में नहीं है।''[१]

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि **वीतरागी-सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान में न तो कर्म का प्रपंच है और न धर्म का विस्तार है; क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि के भेदरूप धर्म और कर्म का विस्तार तो निचली भूमिका में होता है। अतुल महिमा के धारक जिनेन्द्र देव रागभाव के अभाव के कारण वीतरागभावरूप से विराजते हैं। वे वीतरागी भगवान निजसुख में लीन हैं और मुक्ति रमणी के नाथ हैं।।२९१।।** •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४५१

भेद-विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णतः गौण है; क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है। **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३२**

नियमसार गाथा १७५

विगत गाथाओं में ज्ञानी को बंध नहीं होता ह्न यह बताया है और अब इस गाथा में केवली भगवान के भावमन नहीं होता ह्न यह बतलाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स।।१७५।।

(हरिगीत)

खड़े रहना बैठना चलना न ईहापूर्वक।
बंधन नहीं अर मोहवश संसारी बंधन में पड़े।।१७५।।

केवली भगवान के खड़े रहना, बैठना और विहार करना इच्छापूर्वक नहीं होते; इसलिए उन्हें बंध नहीं होता। मोहनीयवश संसारी जीव को साक्षार्थ (इन्द्रिय विषय सहित) होने से बंध होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भट्टारक केवली भगवान के भावमन नहीं होता ह्न यहाँ यह बताया जा रहा है। अरहंत भगवान के योग्य परमलक्ष्मी से विराजमान परम वीतराग सर्वज्ञदेव केवली भगवान का कुछ भी वर्तन इच्छापूर्वक नहीं होता। मनप्रवृत्ति के अभाव होने से वे कुछ भी नहीं चाहते। अथवा वे इच्छा पूर्वक खड़े नहीं रहते, बैठते भी नहीं हैं और न इच्छापूर्वक विहार ही करते हैं; क्योंकि '**अमनस्का: केवलिन: ह्न** केवली भगवान मनरहित होते हैं' ह्न ये शास्त्र का वचन है। इसलिए उन तीर्थंकर परमदेव को द्रव्य-भावरूप चार प्रकार का बंध नहीं होता।

वह चार प्रकार का बंध क्यों होता है, किसे होता है ?

मोहनीय कर्म के विलास से वह बंध होता है तथा इन्द्रियों से सहित संसारी जीवों को मोहनीय के वश इन्द्रियविषयरूप प्रयोजन से वह बंध होता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव को खड़े रहने का विकल्प नहीं होता है। **जिस जगह ठहरना हो, वहाँ अपने आप ही देह रुक जाती है। भगवान को रुकने की इच्छा नहीं होती है। जहाँ पुण्यात्मा जीव रहते हैं, वहाँ स्वयमेव भगवान की देह ठहर जाती है।** इन्द्र वहाँ समवशरण की रचना करता है। तत्पश्चात् भगवान वहाँ पद्मासन में विराजते हैं। 'यहाँ के लोग पात्रजीव हैं; अतः मैं यहाँ ठहर जाऊँ' – ऐसा राग भगवान को नहीं है।[१]

यहाँ केवली भट्टारक के मनरहित होने की बात कही गई है। साधकदशा में राग होता है; वहाँ भावमन होता है। केवलज्ञानरूपी सूर्य के इच्छा नहीं होने से भावमन नहीं है।[२]

भगवान के मन-प्रवृत्ति का अभाव होने से वे इच्छापूर्वक उठते-बैठते नहीं हैं तथा वे विहारादिक भी नहीं करते।[३]

'भगवान ने यज्ञ बन्द कराये, स्त्रियों को हक दिलवाये' – ऐसा लोग कहते हैं; पर यह बात गलत है; क्योंकि भगवान को तो किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं होती।[४]

'मैं धर्मतीर्थ की स्थापना करूँ' – ऐसा विकल्प भी अर्हंत को नहीं होता है। वे समवशरण में बैठकर तीर्थ को नमस्कार करते हैं, यह बात भी गलत है। वे तो सिद्ध को भी नमस्कार नहीं करते हैं; क्योंकि उनके इच्छा नहीं है। **तीर्थंकर दीक्षा लेते समय सिद्धों को नमस्कार करते हैं; इसके अलावा छद्मस्थ दशा में भी तीर्थंकर किसी को नमस्कार नहीं करते।**

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४५४
२. वही, पृष्ठ १४५४
३. वही, पृष्ठ १४५५
४. वही, पृष्ठ १४५५

तीर्थंकर भगवान का सैकड़ों गाँवों में विहार होता है; पर वह इच्छापूर्वक नहीं होता। अज्ञानी कहते हैं कि भगवान किसी को सम्बोधने गये, तो यह बात गलत है।[१]

अज्ञानी मानते हैं कि महावीर भगवान को रोग हुआ तथा बाद में दवा लेने से मिट गया, यह सभी कल्पित बातें हैं।[२] उन तीर्थंकर परमदेव को द्रव्य-भावस्वरूप चतुर्विध बंध नहीं होता।[३]

अक्षार्थ अर्थात् इन्द्रियार्थ – अर्थात् इन्द्रिय के विषय। मोहनीय के वशीभूत होकर संसारी जीव इन्द्रियविषयों का सेवन करते हैं, उन्हें ही बंध होता है। मोह के अभाव से केवली को बंध नहीं होता।[४]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि केवली भगवान के विहारादि इच्छापूर्वक नहीं होते; अत: उनको बंध भी नहीं होता। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ह्न **ये चार प्रकार के बंध मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले मोह-राग-द्वेष के कारण संसारी जीवों को होते हैं।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'प्रवचनसार में कहा गया है' ह्न** ऐसा कहकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं।।८५।।[५]

(हरिगीत)

यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों।
हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरहंत के।।८५।।

उन अरहंत भगवंतों के उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश करना आदि क्रियायें स्त्रियों के मायाचार की भांति स्वाभाविक ही हैं, प्रयत्न बिना ही होती हैं।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४५५ २. वही, पृष्ठ १४५५-१४५६
३. वही, पृष्ठ १४५६ ४. वही, पृष्ठ १४५६
५. प्रवचनसार, गाथा ४४

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''केवली की विहारादि क्रिया की सहजता बताने के लिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्त्री का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि स्त्री का भव पूर्व में किये गये मायाचार से मिलता है। **कुटिलता के भाव करने से स्त्रीवेद बंधता है।**[१]

जिसप्रकार स्त्रियों के वाणी व शरीर संबंधी अनेक चेष्टायें ऐसी होती हैं कि जो उनके भी ख्याल में नहीं आ पाती हैं; इसीप्रकार केवली को इच्छा बिना विहार, उपदेशादि होते हैं। तथा जिसप्रकार आकाश में बादल गमन करते हैं; तब बिजली पैदा होती है; वह भी स्वाभाविक ही है, उसे कोई इच्छापूर्वक नहीं करता है; इसीप्रकार भगवान को इच्छापूर्वक वर्तन नहीं है; अतः उन्हें बंध भी नहीं है।[२]''

प्रवचनसार की उक्त गाथा में भी यही कहा गया है कि जिसप्रकार **महिलाओं में मायाचार की बहुलता सहजभाव से पायी जाती है; उसीप्रकार केवली भगवान का खड़े रहना, उठना, बैठना और धर्मोपदेश देना आदि क्रियायें बिना प्रयत्न के सहज ही होती हैं।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

देवेन्द्रासनकंपकारणमहत्कैवल्यबोधोदये
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः।।२९२।।

(हरिगीत)

इन्द्र आसन कंप कारण महत केवलज्ञानमय।
शिवप्रियामुखपद्मरवि सद्धर्म के रक्षामणि।।
सर्ववर्तन भले हो पर मन नहीं है सर्वथा।
पापाटवीपावक जिनेश्वर अगम्य महिमावंत हैं।।२९२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४५७
२. वही, पृष्ठ १४५७

देवेन्द्रों के आसन कंपायमान होने के कारणभूत महान केवलज्ञान के उदय होने पर; जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी ललना के मुखकमल के सूर्य और सद्धर्म के रक्षामणि पुराणपुरुष भगवान के भले ही सभी प्रकार का वर्तन हो; तथापि भावमन नहीं होता; इसलिए वे पुराणपुरुष अगम्य महिमावंत हैं एवं पापरूपी अटवी (भयंकर जंगल) को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं।

उक्त छन्द में भी केवली भगवान की स्तुति करते हुए यही कहा गया है कि **सच्चे धर्म की रक्षा करनेवाले केवलज्ञान के धनी अरहंत भगवान के उपदेशादि क्रियायें हों, पर उनके भावमन नहीं होता; अतः कर्मों का बंध नहीं होता।**

•

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतनतत्त्व है। यद्यपि उस चेतन तत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगे उठती रहती हैं; तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परम पदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होनेवाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परम पदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया, वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अतः हे मृगराज ! तुझे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-४७

नियमसार गाथा १७६

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान के खड़े रहना, बैठना, चलना आदि क्रियायें इच्छापूर्वक नहीं होतीं और अब इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि आयु कर्म के साथ अन्य अघाति कर्मों का भी क्षय हो जाता है तथा केवली भगवान एक समय में सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण।।१७६।।

(हरिगीत)

फिर आयुक्षय से शेष प्रकृति नष्ट होती पूर्णतः।
फिर शीघ्र ही इक समय में लोकाग्रथित हों केवली।।१७६।।

फिर आयुकर्म के क्षय से शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है और वे केवली भगवान शीघ्र समयमात्र में लोकाग्र में पहुँच जाते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह शुद्धजीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने के उपाय का कथन है। स्वभावगतिक्रियारूप से परिणत, छह अपक्रम से रहित, सिद्धक्षेत्र के सन्मुख अरहंत भगवान को; ध्यान-ध्येय-ध्याता संबंधी, ध्यान के फल प्राप्ति संबंधी तथा तत्संबंधी प्रयोजनसंबंधी विकल्पों से रहित एवं स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप परमशुक्लध्यान द्वारा आयुकर्म के क्षय होने पर, वेदनीय, नाम और गोत्र नामक कर्म की प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है।

शुद्ध निश्चयनय से सहज महिमावान निज स्वरूप में लीन होने पर भी व्यवहारनय से वे अरहंत भगवान अर्ध क्षण में अर्थात् एक समय में लोकाग्र में पहुँच जाते हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सिद्ध भगवान समश्रेणी में सीधे लोकाग्र जाते हैं – यह स्वभावगति का परिणमन है। सिद्धक्षेत्र के अभिमुख अरहंत परमात्मा के परमशुक्ल ध्यान द्वारा कर्मों का सम्पूर्ण नाश होता है।[१]

सिद्ध भगवान लोकाग्र में रहते हैं – यह व्यवहार है; वास्तव में तो वे अपने असंख्य प्रदेशों में स्थित रहते हैं। चैतन्य का क्षेत्र उनके असंख्य प्रदेश हैं। उनमें ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण हैं। उनमें एकाग्र होने पर केवलज्ञानादि खिल उठते हैं। सिद्ध भगवान लोकाग्र में रहते हैं – ऐसा कहना व्यवहार है, वास्तव में तो वे अपने ज्ञान, आनन्द में रहते हैं।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि अन्तिम शुक्ल ध्यान के प्रभाव से आयुकर्म के साथ ही नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म का भी नाश हो जाने से अरहंत परमात्मा एक समय में सिद्ध हो जाते हैं, सिद्धशिला में विराजमान हो जाते हैं।।१७६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तीन छन्द लिखते हैं; उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक्।
सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः।।२९३।।

(दोहा)

छह अपक्रम से सहित हैं जो संसारी जीव।
उनसे लक्षण भिन्न हैं सदा सुखी सिध जीव।।२९३।।

षट् अपक्रमों से रहित संसारी जीवों के लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न होता है। इसलिए वे सदाशिव अर्थात् सदासुखी सिद्धजीव ऊर्ध्वगामी होते हैं।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४६३
२. वही, पृष्ठ १४६४

संसारी जीव अगले भव में जाते समय जो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और ऊपर-नीचे ह्न इन छह दिशाओं में गमन करते हैं; उसे छह अपक्रम कहते हैं। सिद्ध जीवों की गति ऊर्ध्व होने से छह अपक्रमों से रहित होती है। उक्त छह अपक्रमगति वाले संसारी जीवों से सिद्धों का लक्षण भिन्न है। यही कारण है कि वे ऊर्ध्वगामी और सदा शिवस्वरूप हैं।।२९३।।

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते।।२९४।।

(वीर)

देव और विद्याधरगण से नहीं वंद्य प्रत्यक्ष जहान।
बंध छेद से अतुलित महिमा धारक हैं जो सिद्ध महान।।
अरे लोक के अग्रभाग में स्थित हैं व्यवहार बखान।
रहें सदा अविचल अपने में यह है निश्चय का व्याख्यान।।२९४।।

कर्मबंध का छेदन हो जाने से अतुल महिमा के धारक सिद्ध भगवान सिद्धदशा प्राप्त होने पर देव और विद्याधरों के द्वारा प्रत्यक्ष स्तुति गान के विषय नहीं रहे हैं ह्न ऐसा प्रसिद्ध है; तथापि वे व्यवहार से लोकाग्र में स्थित हैं और निश्चय से निज आत्मा में अविचलरूप से रहते हैं।

अरहंत अवस्था में तो सौ इन्द्र उनके चरणों में नमते हैं, गणधरदेव आदि सभी मुनिराज भी उनकी आराधना करते हैं; किन्तु सिद्धदशा प्राप्त हो जाने पर यह सबकुछ नहीं होता; तथापि वे सिद्ध भगवान निज आत्मा में अविचलरूप से विराजमान रहकर अनन्तसुख का उपभोग करते हुए सिद्धशिला पर विराजमान रहते हैं।।२९४।।

(अनुष्टुभ्)

पंचसंसारनिर्मुक्तान् पंचसंसारमुक्तये।
पंचसिद्धानहं वंदे पंचमोक्षफलप्रदान्।।२९५।।

(दोहा)

पंचपरावर्तन रहित पंच भवों से पार।
पंचसिद्ध बंदौ सदा पंचमोक्षदातार।।२९५।।

पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए, पाँच प्रकार के संसार से मुक्त, पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को देनेवाले, पाँच प्रकार के सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ।

उक्त छन्द का आशय यह है कि सिद्ध भगवान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचपरावर्तनरूप संसार से मुक्त हैं, उक्त पाँच प्रकार रूप संसार से मुक्त करने रूप फल को देनेवाले हैं; अत: उक्त पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए मैं उक्त पाँच प्रकार की उपलब्धि से युक्त सिद्धों की वंदना करता हूँ।।२९५।। ●

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यान रूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। **अन्तत: यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।**

सुनकर नहीं, पढकर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्म-ध्यान होता है तो उसी समय आत्म प्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसी समय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१**

नियमसार गाथा १७७

अब इस गाथा में कारणपरमतत्त्व का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं।।१७७।।

(हरिगीत)

शुद्ध अक्षय करम विरहित जनम मरण जरा रहित।
ज्ञानादिमय अविनाशि चिन्मय आतमा अक्षेद्य है।।१७७।।

वह कारणपरमतत्त्व; जन्म-जरा-मरण और आठ कर्मों से रहित, परम, शुद्ध, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य और ज्ञानादि चार स्वभाव वाला है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कारणपरमतत्त्व के स्वरूप का निरूपण है।

वह कारणपरमतत्त्व; स्वभाव से ही संसार का अभाव होने से जन्म-जरा-मरण रहित है; परमपारिणामिकभाव से परमस्वभाववाला होने से परम है; त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप होने से आठ कर्मों से रहित है; द्रव्यकर्म और भावकर्मों से रहित होने से शुद्ध है; सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहज चित्शक्तिमय होने से ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला है; सादि-सान्त, मूर्त इन्द्रियात्मक विजातीय विभाव व्यंजनपर्याय रहित होने से अक्षय है; प्रशस्त-अप्रशस्त गति के हेतुभूत पुण्य-पाप कर्मरूप द्वन्द का अभाव होने से अविनाशी है; तथा वध, बन्धन और छेदन के योग्य मूर्तिकपने से रहित होने के कारण अच्छेद्य है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सिद्ध परमात्मा सुखी कैसे हुए हैं? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि आत्मा अनादि-अनन्त है; उसे किसी ने बनाया नहीं है। **उसके त्रिकाल**

ध्रुव स्वभाव में संसार नहीं है। पर्याय में मात्र एक समय का ही संसार है। यदि वस्तु में संसार हो तो संसार का कभी नाश ही न हो। उसके अवलंबन से सिद्ध भगवान ने पूर्णदशा पाई है। यह सिद्ध परमात्मा का वर्णन करते हुए, सिद्धदशा जिसके अवलंबन से हुई है – उस कारणतत्त्व की व्याख्या की है; क्योंकि **आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसी पूर्णदशा सिद्धभगवान को प्रगट हो गई है।**[१]''

उक्त गाथा में त्रिकाली ध्रुव कारणपरमतत्त्व के, कारणपरमात्मा के जो भी विशेषण दिये गये हैं; टीकाकार ने उन सभी को कारण सहित परिभाषित किया है। वे विशेषण टीका में पूरी तरह स्पष्ट हो गये हैं; अत: कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।।१७७।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अविचलितमखंडज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं
निखिलदुरितदुर्गव्रातदावाग्निरूपम्।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात्।।२९६।।

(वीर)

राग-द्वेष के द्वन्द्वों में जो नहीं रहे अघनाशक है।
अखिल पापवन के समूह को दावानल सम दाहक है।।
अविचल और अखण्ड ज्ञानमय दिव्य सुखामृत धारक है।
अरे भजो निज आतम को जो विमलबोध का दायक है।।२९६।।

अविचल, अखण्डज्ञानरूप, अद्वन्द्वनिष्ठ और सम्पूर्ण पाप के दुस्तर समूह को जलाने के लिए दावानल के समान स्वयं से उत्पन्न दिव्यसुख रूपी अमृतरूप भजने योग्य आत्मतत्त्व को भजो, आत्मतत्त्व का भजन करो; क्योंकि उससे ही तुम्हें सम्पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होगा।

उक्त छंद में अपने आत्मतत्त्व को भजने की प्रेरणा दी गई है।।२९६।।

•

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७०

नियमसार गाथा १७८

जिस कारणपरमतत्त्व की चर्चा विगत गाथा में की गई थी, इस गाथा में भी उसी परमतत्त्व की बात कही जा रही है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं।।१७८।।

(हरिगीत)

पुणपापविरहित नित्य अनुपम अचल अव्याबाध है।
अनालम्ब अतीन्द्रियी पुनरागमन से रहित है।।१७८।।

वह कारणपरमतत्त्व; अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य-पाप से रहित है, पुनरागमन से रहित है, नित्य है, अचल है और अनालंबी है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ भी निरुपाधिस्वरूप है लक्षण जिसका ह्न ऐसा परमात्मतत्त्व ही कहा जा रहा है। वह परमात्मतत्त्व; सम्पूर्ण पुण्य-पापरूप दुष्ट अघरूपी वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रवों को अगोचर सहजज्ञानरूपी गढ में आवास होने के कारण अव्याबाध है; सर्व आत्मप्रदेशों में भरे हुए चिदानन्दमय होने से अतीन्द्रिय हैं; बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्वतत्त्व ह्न इन तीनों में विशिष्ट होने के कारण अनुपम है; संसाररूपी स्त्री के संभोग से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप से रहित है; पुनरागमन के हेतुभूत प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन से रहित हैं; नित्यमरण (प्रतिसमय होनेवाले मरण) तथा उस भवसंबंधी मरण के कारणभूत शरीर के संबंध का अभाव होने के कारण नित्य है; निजगुणों और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है और परद्रव्य के अवलम्बन का अभाव होने के कारण अनालम्ब है।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परमात्मतत्त्व बाधारहित है; इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है; खण्ड-खण्ड ज्ञान द्वारा भी आत्मा ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय है। भगवान आत्मा उपमा रहित है। संसार में तो उपमा दी जा सकती है; परन्तु जिस आत्मा के असंख्यप्रदेश से केवलज्ञान का अनन्त दीपक जल गया है; उसकी क्या उपमा हो सकती है? वह तो अनुपम है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव भी सिद्धों जैसा ही है; अतः वह भी अनुपम है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध है; उसमें पुण्य-पाप का प्रवेश नहीं है। आत्मा कारण है और सिद्धदशा उसका कार्य है।

जिसप्रकार सिद्ध भगवान को दुबारा जन्म नहीं लेना है; उसीप्रकार आत्मा का भी अवतार नहीं होता है। जिसप्रकार आत्मा नित्य है; उसीप्रकार उसकी पूर्ण पर्याय भी नित्य है; क्योंकि वह ज्यों की त्यों हमेशा कायम रहती है। आत्मा का स्वभाव अचल है; सिद्धपर्याय भी अचल है। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली स्वभाव है, वह अचल और निरालंब है। 'द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है' – यह वीतरागदेव की मोहर है। त्रिकाली ध्रुव द्रव्यस्वभाव की श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

यहाँ भी निरुपाधिस्वरूप परमात्मतत्त्व को कहा है। जिसप्रकार १७७वीं गाथा में कहा था; उसीप्रकार यहाँ भी आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में उपाधि नहीं है – ऐसा कहते हैं।

परमात्मतत्त्व का स्वरूप बताते हुए मुनिराज कहते हैं कि जो परमात्मतत्त्व समस्त दुष्ट-पापरूपी वीर शत्रुओं की सेना के लिए अगोचर एवं सहजज्ञानरूपी किले में रहने के कारण अव्याबाध है, निर्विघ्न है। सिद्ध भगवान भी शुद्ध आत्मा की तरह पुण्य-पाप की बाधा से रहित हैं। पुण्य और पाप दोनों ही संसार को बढ़ानेवाले होने से पाप ही हैं। अज्ञानीजन हिंसा, चोरी, काम-क्रोधादि के भावों को ही पाप कहते हैं; पर ज्ञानीजन तो दया, दान, भक्ति, व्रतादि के भावों को भी पाप कहते हैं; क्योंकि पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा की शान्ति को लूटनेवाले हैं। पुण्य भी आत्मा का शत्रु है।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७६-१४७७

आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। उनमें ज्ञान और आनन्द भरे हुए हैं। आत्मा ज्ञान की गाँठ (पोटली) और आनन्द का मटका है। जिसप्रकार शक्कर में मिठास और सफेदी दोनों हैं; उसीप्रकार **आत्मा ज्ञान-आनन्द की खान है। वह इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता; अतः अतीन्द्रिय है।**

आत्मा बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म – इन तीनों तत्त्वों में व्याप्त होने से, विशिष्ट होने से अनुपम है।[१]

बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व – ये सभी पर्यायें हैं। उनसे विशिष्ट असाधारण त्रिकाली सामान्यतत्त्व अनुपम हैं अर्थात् आत्मा को किसी अन्य पदार्थ से उपमित नहीं किया जा सकता है।[२]

पुण्य-पाप आत्मा की विकारी परिणतिरूप स्त्री है। उस स्त्री के संवेदन से होनेवाले सुख-दुःख का आत्मा में अभाव है।[३]

वह आत्मा और सिद्ध परमात्मा नित्यमरण (प्रतिसमय होनेवाला आयुकर्म के निषेकों का क्षय) और भवसंबंधी मरण के कारणभूत शरीर के संबंध का अभाव हो जाने से नित्य हैं। निजगुण और पर्याय से च्युत नहीं होने के कारण अचल हैं। परद्रव्य के आलंबन का अभाव होने के कारण निरालंब हैं। संसारियों के प्रतिक्षण आयुकर्म का क्षय होता जाता है। सिद्धों में आयुकर्म नहीं है; अतः वहाँ मरण भी नहीं है। तथा आत्मा में कर्म भी नहीं है; अतः आत्मा का भी मरण नहीं होता। संसारियों की पर्याय में प्रतिक्षण भावमरण हो रहा है, यह **भावमरण त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। आत्मा में जब भव ही नहीं है तो मरण किसका? आत्मा का मरण नहीं होता; अतः वह नित्य है। तथा आत्मा अपने त्रिकाली गुण और कारणशुद्धपर्याय से कभी च्युत नहीं होता; अतः अचल है। उसे पर का आलंबन नहीं है; अतः वह निरालम्ब है।** यह जीव ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिरता करे तो

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७८
२. वही, पृष्ठ १४७८
३. वही, पृष्ठ १४७८

सिद्धदशा के कारणस्वरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है तथा उसका फल सिद्धपद भी निरालंब है।[१]''

मूल गाथा में त्रिकाली ध्रुव आत्मा के जितने विशेषण दिये गये हैं; उन सभी की सहेतुक सार्थकता टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने स्पष्ट कर दी है; उसे यदि रुचिपूर्वक गंभीरता से पढें तो सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। अत: उक्त टीका के भाव को गहराई से समझने का विनम्र अनुरोध है।

रही-सही कसर स्वामीजी ने पूरी कर दी है। ध्यान रहे स्वामीजी ने उक्त सभी विशेषणों को आत्मा के साथ-साथ सिद्धदशा पर भी गठित किया है। अत: अब कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता। सच्चे आत्मार्थी को इतना ही पर्याप्त है।।१७८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा अमृतचन्द्र आचार्यदेव के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ता:
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधा:।
एतैतेत: पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातु:
शुद्ध: शुद्ध: स्वरसभरत: स्थायिभावत्वमेति।।८६।।[२]

(हरिगीत)

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो।
यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे।।
जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में।
हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय।।८६।।

आचार्यदेव संसार में मग्न जीवों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे जगत के अन्धे प्राणियो! अनादि संसार से लेकर आजतक पर्याय-पर्याय में ये रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं; वह पद अपद है, अपद है ह्न ऐसा तुम जानो।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७९ २. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १३८

हे भव्यजीवो! तुम इस ओर आओ, इस ओर आओ; क्योंकि तुम्हारा पद यह है, यह है; जहाँ तुम्हारी शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु स्वयं के रस से भरी हुई है और स्थाईभावत्व को प्राप्त है, स्थिर है, अविनाशी है।

उक्त छन्द में तीन पद दो-दो बार आये हैं ह्न १. अपद है, अपद है; इधर आओ, इधर आओ; और शुद्ध है, शुद्ध है। इन पदों की पुनरावृत्ति मात्र छन्द के अनुरोध से नहीं हुई है; अपितु इस पुनरावृत्ति से कुछ विशेष भाव अभिप्रेत है।

इसमें शुद्ध है, शुद्ध है; पद की पुनरावृत्ति से द्रव्यशुद्धता और भावशुद्धता की ओर संकेत किया गया है। अपद है, अपद है और इधर आओ, इधर आओ पदों से अत्यधिक करुणाभाव सूचित होता है।।८६।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

भावा: पंच भवन्ति येषु सततं भाव: पर: पंचम:
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचर:।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपति: पापाटवीपावक:।।२९७।।

(वीर)

भाव पाँच हैं उनमें पंचम परमभाव सुखदायक है।
सम्यक् श्रद्धा धारकगोचर भवकारण का नाशक है।।
परमशरण है इस कलियुग में एकमात्र अघनाशक है।
इसे जान ध्यावें जो मुनि वे सघन पापवन पावक हैं।।२९७।।

भाव पाँच हैं; जिनमें संसार के नाश का कारण यह परम पंचमभाव-परमपारिणामिकभाव निरन्तर रहनेवाला स्थायी भाव है और सम्यग्दृष्टियों के दृष्टिगोचर है। समस्त राग-द्वेष को छोड़कर तथा उस परमपंचमभाव को जानकर जो मुनिवर उसका उग्र आश्रय करते हैं; वे मुनिवर ही इस कलियुग में अकेले पापरूपी भयंकर जंगल जलाने में, भस्म कर देने में समर्थ अग्नि के समान हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भाव पाँच हैं। उनमें एकद्रव्यरूपभाव है और चार पर्यायरूपभाव हैं। एक त्रिकाली स्वभावभाव है और चार भाव समय से संबंधित हैं अर्थात् सभी का एक निश्चित समय है। **पंचम पारिणामिकभाव निरन्तर स्थायी है। यह भाव सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग और सिद्धदशा का कारण है।**[1]

यहाँ मुनियों के उग्र पुरुषार्थ होने की वजह से उन्हें अग्नि समान कहा है। सम्यग्दृष्टि के उग्र पुरुषार्थ नहीं होता; अतः वह अग्नि समान नहीं है। मुनिराज तो आत्मस्वरूप में विशेष लीन होते हैं; अतः उनके पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती। **पंचमहाव्रत तथा अट्ठाईस मूलगुण पालने के विकल्प, अचेलपना, एकबार भोजन आदि के विकल्प भी परमार्थ से पाप के समान 'छोड़ने योग्य' ही हैं; उन विकल्पों को जलाने के लिए मुनि समर्थ हैं।**[2]''

इस छन्द में यह कहा गया है कि औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ह्न इन पाँच भावों में परम-परिणामिकभाव नामक सदा स्थायी रहनेवाला सम्यग्दृष्टियों के गोचर पंचमभाव भव का अभाव करनेवाला है। **एकमात्र वे मुनिवर ही इस कलियुग में पापरूपी भयंकर जंगल को जलाने में, भस्म कर देने में अग्नि के समान हैं; जो समस्त राग-द्वेष छोड़कर, उस परम पंचमभाव को जानकर उस परमपारिणामिकभाव का उग्र आश्रय करते हैं; क्योंकि उक्त परमपरिणामिकभावरूप पंचमभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है, मुक्ति की प्राप्ति होती है।।२९७।।** •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४८५ २. वही, पृष्ठ १४८६

वस्तुत: कार्य तो उपादान की पर्यायगत योग्यता के अनुसार ही सम्पन्न होता है; निमित्त की तो मात्र अनुकूलता के रूप से उपस्थिति ही रहती है।

ह्न निमित्तोपादान, पृष्ठ-२८

नियमसार गाथा १७९

विगत गाथा में जिस परमतत्त्व का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि निर्वाण का कारण होने से वह परमतत्त्व ही निर्वाण है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।१७९।।

(हरिगीत)

न जनम है न मरण है सुख-दुख नहीं पीड़ा नहीं।
बाधा नहीं वह दशा ही निर्बाध है निर्वाण है।।१७९।।

जहाँ अर्थात् जिस आत्मा में दुख नहीं है, सुख नहीं है, पीड़ा नहीं है, बाधा नहीं है, मरण नहीं है, जन्म नहीं है; वहाँ ही अर्थात् उस आत्मा में ही, वह आत्मा ही निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सांसारिक विकार समूह के अभाव के कारण उक्त परमतत्त्व वस्तुत: निर्वाण है ह्न यहाँ ऐसा कहा गया है।

निरन्तर अन्तर्मुखाकार परम अध्यात्मस्वरूप में निरत उस निरुपराग रत्नत्रयात्मक परमात्मा के अशुभ परिणति के अभाव के कारण अशुभ कर्म नहीं है और अशुभ कर्म के अभाव के कारण दुख नहीं है; शुभ परिणति के अभाव के कारण शुभकर्म नहीं है और शुभकर्म के अभाव के कारण वस्तुत: सांसारिक सुख नहीं है; पीड़ा योग्य यातना शरीर के अभाव के कारण पीड़ा नहीं है; असाता वेदनीय कर्म के अभाव के कारण बाधा नहीं है; पाँच प्रकार शरीररूप नोकर्म के अभाव के कारण मरण नहीं है और पाँच प्रकार के नोकर्म के हेतुभूत कर्म पुद्गल के स्वीकार के अभाव के कारण जन्म नहीं है। ह्न ऐसे लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ परमतत्त्व के वास्तव में विकारसमूह का अभाव होने के कारण निर्वाण है - ऐसा कहा है। परमतत्त्व विकाररहित होने से द्रव्य-अपेक्षा से सदा मुक्त ही है; अतः मुमुक्षुओं को ऐसा समझना चाहिए कि विकाररहित परमतत्त्व के सम्पूर्ण आश्रय से ही वह परमतत्त्व अपनी स्वाभाविक मुक्तपर्याय रूप से परिणमित होता है अर्थात् आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और आचरण से ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है।[१]

देखो ! यहाँ परमतत्त्व का वर्णन चलता है। जिसे हित करना हो और शान्ति एवं स्वतंत्रता चाहिये; उसे क्या करना चाहिए - इस बात को यहाँ बताते हैं। जगत में अनन्त पदार्थ हैं; उन्हें किसी ने उत्पन्न नहीं किया है और उनका नाश भी नहीं होता है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा भी नया उत्पन्न नहीं होता है और उसका नाश भी नहीं होता है।[२]

आत्मा परमतत्त्व है। शरीर, वाणी और मन - आत्मतत्त्व नहीं हैं। पुण्य-पाप के भाव कृत्रिम हैं। वे आत्मा में से निकल जाते हैं; अतः पुण्यपापरूप मैं नहीं हूँ। मैं तो विकाररहित चैतन्यमूर्ति हूँ - ऐसा ज्ञान करना ही शान्ति का प्रथम उपाय है।[३]

जिसप्रकार चन्द्र, सूर्य कभी मरते नहीं हैं; उसीप्रकार आत्मा भी मरता नहीं है। शरीर के संयोग को जन्म और उसके वियोग को मरण कहते हैं। वे जन्म-मरण आत्मा के नहीं होते हैं। सिद्धों के भी मरण नहीं है। **जगत में जो वस्तु होती है, वह कभी कहीं जाती नहीं है और जो नहीं होती है, वह उत्पन्न नहीं होती है।**[४]

ऊपर कथित लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व के सदा ही मोक्षतत्त्व है। आत्मा ज्ञानलक्षण से पहचाना जाता है। जिसप्रकार शक्कर की गागर शक्कर से भरी है; उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञान से भरा है। इन्द्रियों का विषय खण्ड-खण्ड है। उनसे रहित आत्मा अखण्ड

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४८९
२. वही, पृष्ठ १४९१
३. वही, पृष्ठ १४९१
४. वही, पृष्ठ १४९२

है। चिदानन्द आत्मा में पुण्य-पाप का विकल्प नहीं है। वह सदा मुक्त ही है। जो वस्तु, स्वरूप से मुक्त नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती है।[१]

ज्ञानमूर्ति आत्मा तो सदा मुक्त ही है; क्योंकि वह मुक्तस्वरूप ही है। उसकी दृष्टि करने से मुक्ति होती है।[२]''

यहाँ मूल गाथा में मो मात्र यही कहा गया है कि परमतत्त्व में सांसारिक सुख-दुःख, जन्म-मरण तथा पीड़ा और बाधा नहीं है। अन्तिम पद में कहा कि ऐसा आत्मा ही निर्वाण है; किन्तु टीका में उक्त परमतत्त्व के प्रत्येक विशेषण को सकारण समझाया गया है। अन्त में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उक्त विशेषणों से विशिष्ट परमतत्त्व ही निर्वाण है।

गाथा और टीका में परमतत्त्व की उक्त विशेषताओं में पूर्णतः स्पष्ट हो जाने के उपरान्त स्वामीजी उक्त सभी विशेषणों को उक्त परमतत्त्व के साथ-साथ निर्वाण पर भी घटित करते गये हैं।।१७९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

भवभवसुखदु:खं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम्।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम्।।२९८।।

(वीर)

भव सुख-दुख अर जनम-मरण की पीड़ा नहीं रंच जिनके।
शत इन्द्रों से वंदित निर्मल अद्भुत चरण कमल जिनके।।
उन निर्बाध परम आतम को काम कामना को तजकर।
नमन करूँ स्तवन करूँ मैं सम्यक् भाव भाव भाकर।।२९८।।

इस लोक में जिसे सदा ही भव-भव के सुख-दुख नहीं हैं, बाधा नहीं है, जन्म-मरण व पीड़ा नहीं है; उस कारणपरमात्मा एवं कार्य-परमात्मा को कामसुख से विमुख वर्तता हुआ मुक्तिसुख की प्राप्ति हेतु

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४९२
२. वही, पृष्ठ १४९३

नित्य नमन करता हूँ, उनका स्तवन करता हूँ और भलीभाँति भावना भाता हूँ।

इस छन्द में सांसारिक सुख-दुःख से रहित, जन्म-मरण की पीड़ा से रहित, सर्वप्रकार बाधा से रहित, कारणपरमात्मा एवं कार्यपरमात्मा की कामसुख से विमुख होकर वन्दना की गई है, उनका स्तवन करने की भावना भाई गई है।।२९८।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

आत्माराधनया हीन: सापराध इति स्मृत: ।
अहमात्मानमानन्दमंदिरं नौमि नित्यश: ।।२९९।।

(दोहा)

आत्मसाधना से रहित है अपराधी जीव।
नमूँ परम आनन्दघर आतमराम सदीव।।२९९।।

आत्मा की आराधना से रहित आत्मा को अपराधी माना गया है; इसलिए मैं आनन्द के मन्दिर आत्मा को नित्य नमन करता हूँ।

इस छन्द में भी आत्मा की आराधना से रहित जीवों को अपराधी बताते हुए ज्ञानानन्दमयी भगवान आत्मा और अरहंत-सिद्धरूप कार्य-परमात्मा को नमस्कार किया गया है।।२९९।। •

> आत्मा की चर्चा में थकावट लगना, ऊब पैदा होना आत्मा की अरुचि का द्योतक है।
>
> 'रुचि अनुयायी वीर्य' के अनुसार जहाँ हमारी रुचि है, हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी दिशा में काम करती हैं।
>
> यदि हमें भगवान आत्मा की रुचि होगी तो हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ भगवान आत्मा की ओर ही सक्रिय होंगी और यदि हमारी रुचि विषय-कषाय में हुई तो हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ विषय-कषाय की ओर ही सक्रिय होंगी। **ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-४९**

नियमसार गाथा १८०

विगत गाथा में जिस परमतत्त्व को निर्वाण बताया गया है। इस गाथा में भी उस निर्वाण के योग्य परमतत्त्व का स्वरूप समझाया जा रहा है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।१८०।।

(हरिगीत)

इन्द्रियाँ उपसर्ग एवं मोह विस्मय भी नहीं।
निद्रा तृषा अर क्षुधा बाधा है नहीं निर्वाण में।।१८०।।

जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं हैं, मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, निद्रा नहीं है, तृषा नहीं है, क्षुधा नहीं है; वही निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परम निर्वाण के योग्य परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है।

उक्त परमतत्त्व अखण्ड, एकप्रदेशी, ज्ञानस्वरूप होने से उसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियों का व्यापार नहीं है; देव, मानव, तिर्यंच और अचेतन कृत उपसर्ग नहीं है; क्षायिक ज्ञान और यथाख्यात चारित्रमय होने के कारण दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार का मोहनीय नहीं है; बाह्यप्रपंच से विमुख होने के कारण विस्मय नहीं है, नित्य प्रगटरूप शुद्धज्ञानस्वरूप होने से उसे निद्रा नहीं है; असाता वेदनीय कर्म को निर्मूल कर देने से उसे क्षुधा और तृषा नहीं है; उस परमात्मतत्त्व में सदा ब्रह्म (निर्वाण) है।''

स्वामीजी उक्त गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परमतत्त्व में इन्द्रियाँ और उपसर्ग नहीं हैं। सिद्धदशा में प्रतिकूलता का संयोग ही नहीं है। त्रिकाली चैतन्यतत्त्व में और मुक्तदशा में प्रतिकूलता का स्पर्श नहीं है।[1]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५००

देव, मनुष्य, पशु आदिकृत उपसर्ग परमतत्त्व में नहीं हैं। चिदानन्द तो ज्ञानशक्ति से भरा हुआ है।[1]

त्रिकाली स्वभाव में प्रतिकूलता और उपसर्ग नहीं है – ऐसा भान करके, उसमें लीनता होने पर पूर्णदशा होती है; उस पूर्णदशा में भी उपसर्ग नहीं है। आत्मा अथवा मुक्तजीव के मोह नहीं है।[2]

सिद्धजीवों में विस्मयता (आश्चर्य का भाव) नहीं है। इस आत्मा में भी कौतूहलता नहीं है। करोड़पति सेठ भिखारी और भिखारी करोड़पति हो जाता है; फिर भी आत्मा को कोई आश्चर्य नहीं होता। मानव मरकर देव तथा देव मरकर तिर्यंच्च हो जाता है; तो भी आत्मा को कुछ विस्मय नहीं होता।[3]

आत्मा में निन्द्रा नहीं है। मैं चिदानन्द ज्ञानकुण्ड हूँ। ऐसे भान बिना आत्मा अनन्तकाल से पर्याय में सो रहा है, राग-द्वेष की निद्रा में सो रहा है। यह कृत्रिमता इसने स्वयं उत्पन्न की है; परन्तु भगवान आत्मा तो ज्ञानज्योति है; उसमें निद्रा नहीं है, मुक्तदशा में भी निद्रा नहीं है।

आत्मा में क्षुधा नहीं है। पेट में क्षुधा की अवस्था होती है; परन्तु यदि यह जीव उसका लक्ष न करते हुए अन्तर चिदानन्द का लक्ष करे तो क्षुधा दिखाई ही नहीं देती; क्योंकि आत्मा में क्षुधा नहीं है और सिद्धों में भी क्षुधा नहीं है।

परमतत्त्व में ही निर्वाण है। आत्मा परमतत्त्व है। उसका ज्ञान करके जो दशा प्रगट हुई, उसमें इन्द्रियादि नहीं हैं। वास्तव में मुक्ति तो आत्मा की आनन्ददशा में है। बाह्य क्षेत्र में मुक्ति नहीं है।[4]''

इस गाथा और उसकी टीका में भी विगत गाथा और उसकी टीका के समान गाथा में तो मात्र इतना ही कहा है कि उक्त परमतत्त्व में इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं है, मोह नहीं है, विस्मय, निद्रा, क्षुधा-तृषा नहीं है; अतः वही निर्वाण है; किन्तु टीका में उक्त विशेषणों को सहेतुक सिद्ध किया गया है।।१८०।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५००
२. वही, पृष्ठ १५०१
३. वही, पृष्ठ १५०१
४. वही, पृष्ठ १५०२

इसके बाद **'तथा अमृताशीति में भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं,
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ।।८७।।[1]

(रोला)

जनम जरा ज्वर मृत्यु भी है पास न जिसके।
गती-अगति भी नाहिं है उस परमतत्त्व को।।
गुरुचरणों की सेवा से निर्मल चित्तवाले।
तन में रहकर भी अपने में पा लेते हैं।।८७।।

जिस परमतत्त्व में ज्वर, जन्म और जरा (बुढापा) की वेदना नहीं है; मृत्यु नहीं है और गति-अगति नहीं है; उस परमतत्त्व को अत्यन्त निर्मल चित्तवाले पुरुष, शरीर में स्थित होने पर भी गुण में बड़े ह्न ऐसे गुरु के चरण कमल की सेवा के प्रसाद से अनुभव करते हैं।

उक्त छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा की वर्तमान पर्याय को गौण करके ध्रुवस्वभाव को देखें तो उसमें ज्वर नहीं है, जन्म नहीं है, वृद्धावस्था नहीं है – इत्यादि समस्त विकारों से रहित आत्मतत्त्व है। भाई! ये सारी अवस्थायें तो शरीर की अवस्थायें हैं। आत्मा में ये अवस्थायें नहीं हैं। जिसप्रकार चन्द्रमा और सूर्य कभी मरते नहीं हैं; उसीप्रकार आत्मा भी कभी मरता नहीं है। उसके गमन-आगमन नहीं है, आत्मा कहीं जाता नहीं है और कहीं से आता भी नहीं है। ऐसे आत्मा को ज्ञानी जीव अनुभवते हैं।

ज्ञानी गुरुओं के निमित्त से जब जीव धर्म पाता है, तब उनकी

१. योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति, छन्द ५८

महिमा बताते हुए कहा जाता है कि गुरु के चरणकमल की सेवा से धर्म प्राप्त किया।[१]

भाई! ज्ञानीजीव को भी गुरु के बहुमानरूप शुभभाव होता है – ऐसी पात्रता बिना और सच्चे गुरु के निमित्त मिले बिना काम होनेवाला नहीं है। ऐसा समझकर स्वभाव का आश्रय करने पर अन्तर-अनुभव प्राप्त होता है।[२]''

इस छन्द में ज्वर, जरा, जन्म और मरण की वेदना से रहित, गति-आगति से रहित निज भगवान आत्मारूप परमतत्त्व को तन में स्थित होने पर भी निर्मल चित्तवाले पुरुष गुणों से महान गुरु के चरणों की सेवा के प्रसाद से प्राप्त कर लेते हैं। **तात्पर्य यह है कि देशनालब्धिपूर्वक सम्यक् पुरुषार्थ के बल से आत्मार्थी पुरुष निज आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं।।८७।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्व

(मंदाक्रांता)

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पे-
ऽक्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किंचित्।
नैवान्ये वा भविगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ।।३००।।

(रोला)

अनुपम गुण से शोभित निर्विकल्प आतम में।
अक्षविषमवर्तन तो किंचित्‌मात्र नहीं है।।
भवकारक गुणमोह आदि भी जिसमें न हों।
उसमें निजगुणरूप एक निर्वाण सदा है।।३००।।

अनुपम गुणों से अलंकृत और निर्विकल्प ब्रह्म में इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन किंचित् मात्र भी नहीं है तथा संसार के मूलभूत अन्य मोह-विस्मयादि सांसारिक गुण समूह नहीं है; उस ब्रह्म में सदा निज सुखमय एक निर्वाण शोभायमान है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५०९   २. वही, पृष्ठ १५१०

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्व

''आत्मा के गुण अनुपम हैं, उपमारहित हैं। ज्ञायकस्वरूप आत्मा में पाँच इन्द्रियों का व्यापार नहीं है, वह तो राग-द्वेषादि समस्त व्यापार से रहित है; क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थ है। उसका आदर करके, संसारदोष दूरकर जिसने परमात्मदशा प्रगट की है; उसे इन्द्रियों की विविधता और विषमता नहीं है। इन्द्रियाँ आत्मा को स्पर्शती ही नहीं है।[१]

आत्मतत्त्व में संसार के मूलभूत अन्य मोहविस्मयादि संसारी गुणसमूह नहीं हैं। शुभाशुभभाव जो सांसारिक गुण हैं; वस्तुतः वे दोष हैं। **जिसप्रकार चिरायता बहुत कड़वा होता है; फिर भी उसे गुणवान कहा जाता है; उसीप्रकार संसार में रखड़ने का भाव हो तो वह संसार के लिए तो गुण ही है; पर मोक्ष के लिए दोष है।**[२]

आत्मतत्त्व में सदा निज सुखमय एक निर्वाण प्रकाशमान है। निर्वाण चिदानन्द आत्मा का एक ही स्वरूप है; उसमें सदा आनन्द है। **ज्ञानी जीव को पर्याय में जितना परद्रव्य का अवलंबन है, उतना दुःख है और जितना स्व का अवलंबन है, उतना सुख है। अज्ञानी पूर्ण दुःखी है और सिद्ध पूर्ण सुखी हैं।**[३]

भाई ! चिदानन्द आत्मा में निर्वाण प्रकाशमान है। यह मोक्षरूप शक्ति की बात है। यह जीव इस शक्ति की प्रतीति कर ले तो इसे पर्याय में भी निर्वाण की प्राप्ति हो जाये।[४]''

इस छन्द में यह कहा गया है कि इन्द्रियों के विविध प्रकार के विषम वर्तन से रहित, अनुपम गुणों से अलंकृत, संसार के मूल (जड़) मोह-राग-द्वेषादि सांसारिक गुणों (दोषों) से रहित निज निर्विकल्पक आत्मा में निर्वाण (मुक्ति) सदा विद्यमान ही है।।३००।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१२   २. वही, पृष्ठ १५१२
३. वही, पृष्ठ १५१३   ४. वही, पृष्ठ १५१३

नियमसार गाथा १८१

विगत दो गाथाओं में परमपारिणामिकभावरूप परमतत्त्व ही निर्वाण है ह्न यह कहा गया है। इस गाथा में भी उसी बात को आगे बढा रहे हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।१८१।।

(हरिगीत)

कर्म अर नोकर्म चिन्ता आर्त्त रौद्र नहीं जहाँ।
ध्यान धरम शुकल नहीं निर्वाण जानो है वहाँ।।१८१।।

जहाँ कर्म और नोकर्म नहीं हैं, चिन्ता नहीं है, आर्त और रौद्र ध्यान नहीं है तथा धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है; वहाँ निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह सर्व कर्मों से विमुक्त तथा शुभ, अशुभ और शुद्धध्यान तथा ध्येय के विकल्पों से मुक्त परमतत्त्व के स्वरूप का व्याख्यान है।

जहाँ (जिस परमतत्त्व में) सदा निरंजन होने से आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं; त्रिकाल निरुपाधि स्वभाववाला होने से पाँच प्रकार के नोकर्म (शरीर) नहीं हैं; मन रहित होने के कारण चिन्ता नहीं है; औदयिकादि विभाव भावों का अभाव होने से आर्त और रौद्र ध्यान नहीं है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर न होने से ये दोनों उत्कृष्ट ध्यान भी नहीं है; वहाँ ही महानंद है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सिद्ध भगवान में शरीर, वाणी, कर्म नहीं हैं; क्योंकि जो मूलतत्त्व में नहीं है, वह उनमें से निकल गया है। संसार अवस्था में आत्मा का जो पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है, वह सिद्धपर्याय में

नहीं है तथा आत्मा में चिन्ता भी नहीं है; अतः सिद्धदशा होने पर वह पर्याय से भी निकल जाती है। चिन्ता मोक्षमार्ग में भी नहीं है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान – ये दोनों ध्यान आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं तथा जितना मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसमें भी ये दोनों ध्यान नहीं हैं तथा सिद्धपर्याय में तो सर्वथा ही नहीं हैं। भगवान ने विकारी पर्याय को नष्ट कर मुक्तदशा को प्राप्त किया है, यह निर्वाण है। सिद्धशिला पर जाना निर्वाण नहीं है; क्योंकि वहाँ तो निगोदिया जीव भी हैं; उन्हें तो मोक्ष नहीं होता; अत: क्षेत्र के कारण मोक्ष नहीं होता।

भाई ! आत्मा में पूर्णशुद्धपर्याय का प्रगट होना मोक्ष है। धर्मध्यान निचलीदशा में होता है और शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान तक होता है; परन्तु सिद्धों में ध्यान नहीं होता।[1]

परमतत्त्व अर्थात् सिद्धपरमात्मतत्त्व तथा त्रिकाली आत्मतत्त्व – दोनों की यहाँ बात करते हैं।

परमतत्त्व सदा निरंजन होने के कारण उसमें आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं। आठ कर्म तो जड़ हैं, वे आत्मा में नहीं हैं। वे निमित्तरूप से संसारी जीवों के होते हैं। सिद्धों के निमित्तरूप से भी नहीं होते हैं। तीनों काल निरुपधि स्वरूपवाला होने से परमतत्त्व के पाँच प्रकार का शरीर नहीं है। जितने सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे; उन सभी के पाँचों ही प्रकार के शरीर नहीं हैं।

तथा आत्मा मनरहित होने से उसे चिन्ता नहीं है। एक समय की पर्याय में, संसारदशा में, विकल्प में मन निमित्त होता है; परन्तु त्रिकाली तत्त्व को मन का सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार सिद्धों के मन नहीं है; अतः उन्हें चिन्ता भी नहीं है। **औदयिक आदि चार विभावभाव आत्मा में नहीं हैं; अतः उसमें आर्त और रौद्र ध्यान भी नहीं है।**[2]

भाई ! सिद्धदशा में ही महा-आनन्द है। चारों ही प्रकार के ध्यान सिद्धों के नहीं हैं। शुक्लध्यान उत्कृष्ट ध्यान है, इसके योग्य चरमशरीर

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१४-१५१५ २. वही, पृष्ठ १५१५

ही होता है, सिद्धों के वह शरीर नहीं है; अतः उनके शुक्लध्यान भी नहीं है। भाई! वास्तव में तो त्रिकाली तत्त्व में ही आनन्द है, सिद्धों की पर्याय में भी आनन्द है; परन्तु परद्रव्य में आनन्द नहीं है।[1]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि उक्त परमतत्त्व में; सदा निरंजन होने से ज्ञानावरणादि आठ कर्म नहीं हैं, त्रिकाल निरुपाधि स्वभाववाला होने से औदारिकरूप पाँच शरीररूप नोकर्म नहीं है, औदयिक आदि विभावभावों का अभाव होने से चार प्रकार के आर्त और चार के प्रकार के रौद्रध्यान नहीं हैं, चरम शरीर का अभाव होने से चरम शरीरी के होने वाले चार धर्मध्यान और चार शुक्लध्यान नहीं हैं तथा मन नहीं होने से चिन्ता भी नहीं है।

इसप्रकार महानन्दस्वरूप उक्त परमतत्त्व के न तो कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न चिन्ता है, न आर्त-रौद्रध्यान है तथा धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है। इसप्रकार हम देखते हैं कि आश्रय करने योग्य वह परमतत्त्व ही है ।।१८१।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
कर्माशेषं न च नच पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम् ।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ।।३०१।।

(रोला)

जिसने घाता पापतिमिर उस शुद्धातम में।
कर्म नहीं हैं और ध्यान भी चार नहीं हैं।।
निर्वाण स्थित शुद्ध तत्त्व में मुक्ति है वह।
मन-वाणी से पार सदा शोभित होती है।।३०१।।

जिसने पापरूपी अंधकार के समूह का नाश किया है, जो विशुद्ध है; उस निर्वाण में स्थित परम ब्रह्म में सम्पूर्ण कर्म नहीं है और चार

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१६

प्रकार के ध्यान भी नहीं हैं। उन सिद्धरूप ज्ञानपुंज भगवान परम ब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है, जो वचन और मन से दूर है।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस शुद्धभाव अधिकार में सिद्धों का स्वरूप कैसा होता है और वह दशा किस उपाय से प्राप्त होती है? - यह बताते हैं। **मात्र परमानन्द के अनुभववाला आत्मा सिद्ध कहलाता है। वे जिस उपाय से सिद्ध हुए, उस उपाय को जानकर उसकी श्रद्धा करें तो सिद्ध की प्रतीति की - ऐसा कहा जाये;** परन्तु यह जीव अनादि से जो करता आ रहा है, उस उपाय से सिद्धदशा नहीं होती है; परन्तु **मेरा स्वभाव सिद्ध जैसा है - ऐसा निर्णय कर उसमें लीन हो जाये तो उसके द्वारा सिद्ध हो जाता है।[1]''**

जो बात गाथा और उसकी टीका में कही गई है, वही बात इस छन्द में भी कही गई है। कहा गया है कि पापरूपी अंधकार का नाश करनेवाले, निर्वाणदशा को प्राप्त, विशुद्ध परमब्रह्म में ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म नहीं है; चार प्रकार के ध्यान भी नहीं हैं। उन सिद्धदशा को प्राप्त, ज्ञान के पुंज परमब्रह्म में मन-वचन से दूर कोई ऐसी मुक्ति प्रगट हुई है; जिसकी कामना सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाई-बहिन करते हैं।।३०१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१७

जो अपना नही है, उससे हम कितना ही राग क्यों न करें, राग करने मात्र से वह अपना नहीं हो जाता। जो अपना है, उससे हम कितना ही द्वेष क्यों न करें, द्वेष करने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता।

जो अपना है सो अपना है, जो पराया है सो पराया है।

इसीप्रकार जो अपना है, उसे पराया मानने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता और जो पराया है, उसे अपना मानने मात्र से वह अपना नहीं हो जाता; क्योंकि जो अपना है, वह त्रिकाल अपना है; जो पराया है, वह त्रिकाल पराया है।

ह्न गागर में सार, पृष्ठ-२४-२५

नियमसार गाथा १८२

विगत गाथाओं में यह कहा था कि परमतत्त्व ही निर्वाण है और अब इस गाथा में उक्त निर्वाण अर्थात् सिद्ध भगवान के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ।।१८२।।

(हरिगीत)

अरे केवलज्ञानदर्शन नंतवीरजसुख जहाँ।
अमूर्तिक अर बहुप्रदेशी अस्तिमय आतम वहाँ ।।१८२।।

सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल वीर्य तथा अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह सिद्ध भगवान के स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है।

सम्पूर्णत: अन्तर्मुखाकार स्वात्माश्रित निश्चयपरमशुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का विलय होने पर; उक्त कारण से सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य और अमूर्तत्व, अस्तित्व तथा सप्रदेशत्व आदि स्वभावगुण होते हैं।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह भगवान सिद्ध के स्वाभाविक गुणों का कथन है। सिद्धों का वर्णन करते हुए उन्होंने निर्वाण किसप्रकार प्राप्त किया – यह बात भी साथ में कह रहे हैं।[१]

सिद्ध भगवान के आत्मा ने पूर्व में संसार अवस्था में आत्मा की अन्तर्मुखदृष्टि की थी, तत्पश्चात् स्वरूप में एकाग्रता की थी – इसप्रकार एकाग्रतारूप चारित्र से सर्वथा अन्तर्मुख होकर वे भगवान बन गये, तब ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का क्षय हुआ और केवलज्ञानादि प्रगट हुए।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१९

भाई ! शुक्लध्यान का स्वरूप अन्तर्मुखपना है। इस शुक्लध्यान के बल से भगवान होते हैं; परन्तु बाह्य आहारादि छोड़ने से या आहार छोड़ने के विकल्प से सिद्धदशा नहीं होती है। यह सिद्ध होने का उपाय है, सर्वप्रथम इसे बराबर जानना चाहिए।[१]

मूलपाठ में कार्य परमात्मा की बात की है; परन्तु टीका में कारण-परमात्मा की बात भी साथ में समझाई है। – यह टीकाकार की मौलिक शैली है।[२]''

इस गाथा में सिद्ध भगवान के अनन्त चतुष्टय और अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व की चर्चा है। टीका में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन गुणों की प्राप्ति निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से होती है ।।१८२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत् ।
दृष्टि: साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ।।३०२।।

(रोला)

बंध-छेद से नित्य शुद्ध प्रसिद्ध सिद्ध में।
ज्ञानवीर्यसुखदर्शन सब क्षायिक होते हैं।।
गुणमणियों के रत्नाकर नित शुद्ध शुद्ध हैं।
सब विषयों के ज्ञायक दर्शक शुद्ध सिद्ध हैं।।३०२।।

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा और नित्य शुद्ध प्रसिद्ध सिद्धपरमेष्ठी में बंधछेद के कारण सदा के लिए केवलज्ञान होता है, सभी को देखनेवाला केवलदर्शन होता है, अनन्तसुख होता है और शुद्ध-शुद्ध अनन्तवीर्य आदिक अनन्त गुणमणियों समूह होता है।

जो बात गाथा में कही गई है, उसी बात को इस छन्द में दुहरा दिया गया है ।।३०२।। •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५२१ २. वही, पृष्ठ १५२२

नियमसार गाथा १८३

विगत गाथा में सिद्ध भगवान का स्वरूप समझाया था और अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि निर्वाण ही सिद्धत्व है और सिद्धत्व ही निर्वाण है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ।।१८३।।

(हरिगीत)

निर्वाण ही सिद्धत्व है सिद्धत्व ही निर्वाण है।
लोकाग्र तक जाता कहा है कर्मविरहित आतमा ।।१८३।।

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। कर्म से मुक्त आत्मा लोकाग्र पर्यन्त अर्थात् सिद्धशिला तक जाता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह सिद्धि और सिद्ध के एकत्व के प्रतिपादन की प्रवीणता है।

यह निर्वाण शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। यदि कोई कहे कि किसप्रकार तो उसके उत्तर में कहते हैं कि **'निर्वाणमेव सिद्धा ह्न** निर्वाण ही सिद्ध हैं' ह्न इस आगम के वचन से यह बात सिद्ध होती है। **'सिद्ध भगवान सिद्धक्षेत्र में रहते हैं'** ह्न ऐसा व्यवहार है। निश्चय से तो सिद्ध भगवान निज स्वरूप में ही रहते हैं; इसकारण 'निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है' ह्न इसप्रकार निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द में एकत्व सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह है कि कोई आसन्न भव्य जीव परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमभाव की भावना द्वारा सम्पूर्ण कर्मकलंकरूपी कीचड़ से मुक्त होते हैं; वे आसन्नभव्यजीव परमात्मतत्त्व प्राप्त कर लोक के अग्र भाग तक जाते हैं, सिद्धशिला तक पहुँचकर अनन्त काल तक के लिए वहीं ठहर जाते हैं।''

इस गाथा में निर्वाण ही सिद्धत्व है और सिद्धत्व ही निर्वाण है ह्न यह निर्वाण और सिद्धत्व में एकत्व स्थापित किया गया है। गाथा की दूसरी पंक्ति में यह कहा गया है कि आत्मा की आराधना करनेवाले पुरुष अष्टकर्मों का अभाव करके लोकाग्र में जाकर ठहर जाते हैं, अनन्त काल तक के लिए वहीं विराजमान हो जाते हैं।।१८३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च।
यदि पुनरिह भव्य: कर्म निर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप: ।।३०३।।

(रोला)

जिनमत संमत मुक्ति एवं मुक्तजीव में।
हम युक्ति आगम से कोई भेद न जाने।।
यदि कोई भवि सब कर्मों का क्षय करता है।
तो वह परमकामिनी का वल्लभ होता है।।३०३।।

जैनदर्शन में मुक्ति और मुक्त जीव में युक्ति और आगम से हम कहीं भी कोई भेद नहीं देखते। इस लोक में यदि कोई भव्य जीव सर्व कर्मों का निर्मूलन करता है तो भव्यजीव मुक्तिलक्ष्मीरूपी वल्लभा का वल्लभ होता है।

इस छन्द में यह कहा गया है कि मुक्ति और मुक्त जीव में हमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह है कि ये दोनों एक ही हैं। जो भव्यजीव अष्टकर्मों का नाश करते हैं; वे भव्यजीव मुक्तिरूपी लक्ष्मी के पति होते हैं, मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।३०३।। •

> भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ–२०२**

नियमसार गाथा १८४

विगत गाथा में कहा था कि सिद्धत्व और निर्वाण एक ही है और इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि जहाँ तक धर्मद्रव्य है, जीव और पुद्‌गलों का गमन वहीं तक है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।।१८४।।

(हरिगीत)

जीव अर पुद्‌गलों का बस वहाँ तक ही गमन है।
जहाँ तक धर्मास्ति है आगे न उनका गमन है।।१८४।।

जहाँ तक धर्मास्तिकाय है; वहाँ तक जीव और पुद्‌गलों का गमन होता है ह्न ऐसा जानो। धर्मास्तिकाय के अभाव में उसके आगे वे जीव और पुद्‌गल नहीं जाते।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में सिद्धक्षेत्र के ऊपर जीव और पुद्‌गलों के गमन का निषेध किया गया है।

जीवों की स्वभावक्रिया सिद्धिगमन है अर्थात् सिद्धक्षेत्र तक जाने की है और विभावक्रिया अगले भव जाते समय छह दिशाओं में गमन है। पुद्‌गलों की स्वभावक्रिया परमाणु की गति है, गतिप्रमाण है और विभावक्रिया दो अणुओं से अनंत परमाणुओं तक के स्कंधों की गति प्रमाण है। इसलिए इन जीव और पुद्‌गलों की गतिक्रिया त्रिलोक के शिखर के ऊपर नहीं है; क्योंकि आगे गति के निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। जिसप्रकार जल के अभाव में मछलियों की गतिक्रिया नहीं होती; उसीप्रकार जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, उस क्षेत्र तक ही स्वभावगतिक्रिया और विभावगतिक्रियारूप से परिणत जीव-पुद्‌गलों की गति होती है।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि जीव और पुद्‌गलों का गमन वहीं तक होता है, जहाँ तक धर्मद्रव्य का अस्तित्व है। उसके आगे इनका गमन नहीं होता।।१८४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्‌गलयोर्द्वयो:।
नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावत:।।३०४।।

(रोला)

तीन लोक के शिखर सिद्ध स्थल के ऊपर।
गति हेतु के कारण का अभाव होने से।।
अरे कभी भी पुद्‌गल जीव नहीं जाते हैं।
आगम में यह तथ्य उजागर किया गया है।।३०४।।

गति हेतु के अभाव के कारण जीव और पुद्‌गलों का गमन त्रिलोक के शिखर के ऊपर कभी भी नहीं होता।

जो बात गाथा में कही गई है, वही बात इस छन्द में दुहरा दी गई है।।३०४।। ●

आत्मानुभूति प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों से मतिज्ञानतत्त्व को समेट कर आत्माभिमुख करता है तथा अनेक प्रकार के पक्षों का अवलम्बन करनेवाले विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर उसे भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवों को पार कर स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१५

नियमसार गाथा १८५

यह गाथा नियम और उसके फल के उपसंहार की गाथा है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ।।१८५।।

(हरिगीत)

नियम एवं नियमफल को कहा प्रवचनभक्ति से।
यदी विरोध दिखे कहीं समयज्ञ संशोधन करें।।१८५।।

प्रवचन की भक्ति से यहाँ नियम और नियम का फल दिखाये गये हैं। यदि इसमें कुछ पूर्वापर विरोध हो तो आगम के ज्ञाता उसे दूर कर पूर्ति करें।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह इस नियमसार शास्त्र के आरंभ में लिये नियम शब्द और उसके फल का उपसंहार है।

पहिले तो नियम शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यान के रूप में प्रतिपादित किया गया और उसका फल निर्वाण के रूप में प्रतिपादित किया गया। यह सब कवित्व के अभिमान से नहीं किया गया; किन्तु प्रवचन की भक्ति से किया गया है। यदि इसमें कुछ पूर्वापर दोष हो तो आत्मा के जानकार परमकवीश्वर दोषात्मक पद का लोप करके उत्तम पद नियोजित करें।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मोक्षमार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है और उसका फल परमनिर्वाण अर्थात् मोक्ष है। ऐसे मोक्षमार्ग का और मोक्ष का वर्णन श्री जिनेन्द्रदेव की वाणी में आया है और गणधरदेवों ने उसे कहा है। उस प्रवचन के प्रति

भक्ति से मैंने इस शास्त्र में मोक्षमार्ग और मोक्ष का वर्णन किया है। आचार्यदेव ने कोई कविपने के अभिमान से यह रचना नहीं की है; परन्तु प्रवचन सम्बन्धी भक्ति से ही रचना की है। उसमें कुछ व्याकरणादि की भूल हो तो उसे सुधार लेना। मूलभूत तत्त्व में तो भूल है ही नहीं।[१]''

उपसंहार की इस गाथा व उसकी टीका में कहा गया है कि मैंने शुद्ध रत्नत्रयरूप नियम और मुक्तिरूप उसका फल का निरूपण जिनागम की भक्ति से किया है। **इसमें कहीं कोई पूर्वापर विरोध दिखाई दे तो आत्म स्वरूप के जानकार इसमें उचित संशोधन अवश्य करें।**

भाव में तो कोई गलती होने की संभावना नहीं है; यदि शब्दादि प्रयोगों में कुछ कमी रह गई हो तो उसकी पूर्ति का अनुरोध परम्परानुसार आचार्यदेव ने किया है।।१८५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयसरसिजाते निर्वृतेः कारणत्वात्।
प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ।।३०५।।

(रोला)

नियमसार अर तत्फल यह उत्तम पुरुषों के।
हृदय कमल में शोभित है प्रवचन भक्ति से।।
सूत्रकार ने इसकी जो अद्भुत रचना की।
भविकजनों के लिए एक मुक्तीमारग है।।३०५।।

निवृति (मुक्ति) का कारण होने से यह नियमसार और उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में जयवंत है। प्रवचन भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है, वह वस्तुत: समस्त भव्यसमूह को निर्वाण का मार्ग है।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५३६

मुक्ति का कारण होने से यह रत्नत्रयरूप धर्म और नियमसार नामक शास्त्र तथा उसका मुक्तिरूप फल सभी उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में जयवंत रहे। सूत्रकार अर्थात् गाथायें लिखनेवाले आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने परमागम की भक्ति से यह शास्त्र लिखा है। उनका इसमें कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, स्वार्थ नहीं है। **यह शास्त्र सभी भव्यजीवों के लिए मुक्ति का मार्ग दिखानेवाला है। अत: सभी भव्यजीवों को इसका सच्चे दिल से पठन-पाठन करना चाहिए।।३०५।।** •

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा, तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है।

अत: जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अत: हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी हैं,' ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है।

अत: वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१४४

नियमसार गाथा १८६

उपसंहार की विगत गाथा के उपरान्त लिखी जानेवाली इस गाथा में यह अनुरोध किया जा रहा है कि निन्दकों की बात पर ध्यान देकर इसके अध्ययन से विरक्त मत हो जाना।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंन्दरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे।।१८६।।

(हरिगीत)

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की।
छोड़ो न भक्ति वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की।।१८६।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दरमार्ग की निन्दा करता है तो उसके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ भव्यजीवों को शिक्षा दी है। यदि कोई मंदबुद्धि त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द लक्षणवाले, निर्विकल्प, निजकारणपरमात्मतत्त्व के सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय से प्रतिपक्षी मिथ्यात्व कर्मोदय की सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र परायण वर्तते हुए ईर्ष्याभाव से/मत्सरयुक्त परिणाम से पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है ह्न ऐसे भेदोपचार रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञवीतरागदेव के इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करते हैं तो उन स्वरूप विकल लोगों के कुत्सित हेतु और खोटे उदाहरणों से युक्त कुतर्क वचनों को सुनकर जिनेश्वर प्रणीत शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति हे भव्यजीवो! अभक्ति नहीं करना, परन्तु भक्ति करना ही कर्त्तव्य है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अहो! यह अलौकिक निर्ग्रन्थ मार्ग है। कोई उसकी ईर्ष्या से निन्दा करता है तो उसके सामने देखना ही नहीं। वीतरागमार्ग के प्रति अपनी भक्ति बनाये रखना। जिसप्रकार बच्चे को शिक्षा देते हैं; उसीप्रकार कुन्दकुन्द भगवान भव्यजीव को शिक्षा देते हैं कि हे भव्य! तुम ध्यान रखना। जो यह मोक्ष का मार्ग कहा है, उसके अलावा अन्य कोई मोक्ष का मार्ग जगत में नहीं है। अहो! ऐसा स्पष्ट है मोक्षमार्ग। फिर भी जगत के जीव उसे क्यों नहीं मानते और ईर्ष्या से उसकी निन्दा क्यों करते हैं?

जगत के जीव निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की निन्दा करते हैं तो तू उनके सामने देखकर भटकना नहीं; परन्तु तू अपने आत्मा में निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की भक्ति टिकाकर मोक्षमार्ग साधना – इसप्रकार आचार्य भगवान ने भव्यजीवों को शिक्षा दी है।

इस नियमसार ग्रन्थ में आचार्यदेव ने मोक्षमार्ग और मोक्ष का बहुत अलौकिक वर्णन किया है। अन्त में वे भव्यजीवों को शिक्षा देते हैं कि अहो! शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है। ऐसी वीतरागी मोक्षमार्ग को नहीं समझनेवाला जीव ईर्ष्या से उसकी निन्दा करता है तो उसे सुनकर धर्मात्मा जीवों को जिनमार्ग में अभक्ति नहीं करना चाहिए; क्योंकि जिनमार्ग की श्रद्धा ही कर्त्तव्य है।[१]

देखो ! मोक्षमार्ग कहो, स्वभाव का अवलंबन कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, शुद्धरत्नत्रय कहो, जैनमार्ग कहो ह्न नाम भले ही कुछ भी दो; पर इसकी प्राप्ति का एक ही उपाय है और वह उपाय है अपने त्रिकाली कारणपरमात्मा का आश्रय करके उसकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण करना। यही मोक्षमार्ग है।[२]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त करुणाभाव से आचार्यदेव एवं टीकाकार मुनिराज कह रहे हैं कि हे भव्यजीवो ! इस जगत में ऐसे अज्ञानियों की कमी नहीं है कि जो ईर्ष्याभाव के कारण एकदम सच्चे

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५३९
२. वही, पृष्ठ १५४१

रत्नत्रयरूप धर्म की निन्दा करते देखे जाते हैं; उनके भड़कावे में आकर, उनके मुख से इस पवित्रमार्ग की निन्दा सुनकर बिना विचार किये इस पवित्र मार्ग से च्युत नहीं हो जाना; अन्यथा तुम्हें भव-भव में भटक कर अनंत दुःख उठाने पड़ेंगे। **सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को आचार्यदेव के उक्त करुणा से सने वचनों पर ध्यान देना चाहिए, उनकी शिक्षा का पूरी तरह से पालन करना चाहिए ।।१८६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने[१] ।
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे।।३०६।।

(हरिगीत)

देहपादपव्यूह से भयप्रद बसें वनचर पशु।
कालरूपी अग्नि सबको दहे सूखे बुद्धिजल।।
अत्यन्त दुर्गम कुनयरूपी मार्ग में भटकन बहुत।
इस भयंकर वन विषैं है जैनदर्शन इक शरण।।३०६।।

देहरूपी वृक्षों की पंक्ति की व्यूहरचना से भयंकर, दुःखों की पंक्ति रूपी जंगली पशुओं का आवास, अति करालकालरूपी अग्नि जहाँ सबको सुखाती है, जलाती है और जो दर्शनमोह युक्त जीवों को अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यन्त दुर्गम है; उस जन्मरूपी भयंकर जंगल के विकट संकट में जैनदर्शन ही एक शरण है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''संसार में राजा और रंक दोनों दुःखी हैं। स्वर्ग के देव भी आकुलता

१. यहाँ कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है

से दुःखी हैं। निर्धन दीनता से दुःखी हैं और धनवान अभिमान से दुःखी हैं। जहाँ पूरी दुनिया आकुलता से दुःखी है; वहाँ आत्मा का भान करके उसमें लीन रहनेवाले संत सदा सुखी हैं।[१]

इन्द्र का इन्द्रासन छूट गया। चक्रवर्ती का राज चला गया। भरतक्षेत्र में तीर्थंकरों का समवशरण था, वह समवशरण बिखर गया। तीर्थंकर की देह के परमाणु बिखर गये। इस भरतक्षेत्र में समवशरण में महावीर परमात्मा विराजे थे। तब धर्म का उद्घोष होता था। साक्षात् गणधरदेव विराजमान थे। इन्द्र आकर भगवान के चरण की पूजा करते थे। ऐसा समवशरण भी आज इस क्षेत्र में नहीं दिखाई देता है। इसप्रकार काल सभी को कवल (कौर) की तरह ग्रस लेता है। ऐसे इस संसारवन में एक जैनदर्शन ही शरण है अर्थात् आत्मा का स्वभाव ही शरण है।[२]

जिसप्रकार भूल-भूलैया में अज्ञानी को मार्ग नहीं मिलता है; उसीप्रकार इस घोर संसार में अनेक कुनयरूपी मार्ग हैं। उनमें मोक्ष का मार्ग खोजना अज्ञानी जीवों को अत्यन्त दुर्गम है।[३]

अतः मुनिराज कहते हैं कि अरे जीव! यदि तुझे विकट संसार में से पार उतरना हो तो एक जैनदर्शन की शरण गहो, जैनदर्शन को समझाने वाले संतों की शरण गहो। सत्समागम में अपनी योग्यता से आत्मस्वभाव को समझकर उसकी शरण लेना ही संसारसागर से पार उतरने का उपाय है।[४]''

जिसप्रकार गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त करुणाभाव से भव्य जीवों को संबोधित किया गया है; उसीप्रकार इस छन्द में भी अत्यन्त करुणापूर्वक समझाया जा रहा है कि इस दुःखों के घर संसार में एकमात्र जैनदर्शन शरणभूत है; क्योंकि सच्चा वीतरागी मार्ग जैनदर्शन में ही है, अन्यत्र कहीं भी नहीं है।।३०६।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५४७
२. वही, पृष्ठ १५४८
३. वही, पृष्ठ १५४८
४. वही, पृष्ठ १५५०

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो–
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ।।३०७।।

(हरिगीत)

सम्पूर्ण पृथ्वी को कंपाया शंखध्वनि से आपने।
सम्पूर्ण लोकालोक है प्रभु निकेतन तन आपका।।
हे योगि! किस नर देव में क्षमता करे जो स्तवन।
अती उत्सुक भक्ति से मैं कर रहा हूँ स्तवन।।३०७।।

जिन प्रभु का ज्ञानरूपी शरीर लोकालोक का निकेतन है; जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कंपा दिया था; उन नेमिनाथ तीर्थेश्वर का स्तवन करने में तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है ? फिर भी उनका स्तवन करने का एकमात्र कारण उनके प्रति अति उत्सुक भक्ति ही है ह्न ऐसा मैं जानता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज कहते हैं कि हे नाथ! हमें आत्मा का भान हुआ है और आपकी सम्यक् पहचान हुई है; अतः आपके प्रति भक्ति का प्रमोद और उत्साह आये बिना नहीं रहता है। भगवान के ज्ञानशरीर में लोकालोक बसते हैं अर्थात् भगवान सदा लोकालोक के ज्ञायक हैं।

जिन्होंने गृहस्थदशा में शंख की ध्वनि से सम्पूर्ण पृथ्वी को गुंजाया था और बाद में जो सर्वज्ञ हुए, ऐसे श्री नेमिनाथ भगवान के स्तवन में इस जगत में कौन मनुष्य या देव समर्थ है।[१]

भगवान नेमिनाथ प्रभु श्रीकृष्ण के भाई थे। एकबार नेमिनाथ भगवान ने श्रीकृष्ण की रानी सत्यभामा से वस्त्र धोने के लिए कहा। तब रानी ने

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५५०

कहा कि श्रीकृष्ण जैसा मेरा स्वामी और तुम मुझसे वस्त्र धोने के लिए कह रहे हो? तुममें श्रीकृष्ण जैसा बल कहाँ है ?

तब श्री नेमिनाथ भगवान श्रीकृष्ण की नागशय्या में सो गये और उनका शंख लेकर ध्वनि करने लगे। उस शंख की ध्वनि सुनते ही धरती काँप उठी थी। भाई ! गृहस्थपने में ही उनके ऐसा अचिन्त्य बल था। बाद में शादी के प्रसंग में वैराग्य पाकर मुनि हुए और केवलज्ञान प्राप्त किया।

अहो ! ऐसे सर्वज्ञनाथ भगवान की स्तुति तीन लोक में कौन कर सकता है; तथापि हे नाथ! हमें तुम्हारी भक्ति करने का विकल्प एवं उत्सुकता बनी रहती है। परन्तु हे नाथ! यह विकल्प भी तोड़कर स्वरूप में ठहरूँगा, तभी आपके जैसा केवलज्ञान प्राप्त होगा।[१]''

उक्त छन्द में नेमिनाथ भगवान की स्तुति की गई है। कहा गया है कि जिन्होंने गृहस्थावस्था में शंखध्वनि से सबको कंपा दिया था और सर्वज्ञ दशा में जिनके ज्ञान में लोकालोक समाहित हो गये थे; उन नेमिनाथ की स्तुति कौन कर सकता है; पर मैं जो कर रहा हूँ, वह तो एकमात्र उनके प्रति अगाध भक्ति का ही परिणाम है।।३०७।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५५१

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो 'पर' हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी 'पर' हैं तथा आत्मा में प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्म-तत्त्व है, वही एकमात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३५

नियमसार गाथा १८७

नियमसार की इस अन्तिम गाथा में यह कहा गया है कि मैंने यह नियमसार नामक ग्रंथ स्वयं की अध्यात्म भावना के पोषण के लिए लिखा है। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।।१८७।।

(हरिगीत)

जान जिनवरदेव के निर्दोष इस उपदेश को।
निज भावना के निमित मैंने किया है इस ग्रंथ को।।१८७।।

जिनेन्द्रदेव के पूर्वापर दोष रहित उपदेश को भलीभाँति जानकर यह नियमसार नामक शास्त्र मेरे द्वारा अपनी भावना के निमित्त से किया गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह शास्त्र के नामकथन द्वारा शास्त्र के उपसंहार संबंधी कथन है।

यहाँ आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव प्रारंभ किये गये कार्य के अन्त को प्राप्त हो जाने से अत्यन्त कृतार्थता को पाकर कहते हैं कि सैंकड़ों परम-अध्यात्मशास्त्रों में कुशल मेरे द्वारा अशुभ भावों से बचने के लिए अपनी भावना के निमित्त से यह नियमसार नामक शास्त्र किया गया है।

क्या करके यह शास्त्र किया गया है ?

अवंचक परमगुरु के प्रसाद से पहले अच्छी तरह जानकर यह शास्त्र लिखा गया है।

क्या जानकर ?

जिनोपदेश को जानकर। वीतराग-सर्वज्ञ भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए परम उपदेश को जानकर यह शास्त्र लिखा है।

कैसा है यह उपदेश ?

पूर्वापर दोष से रहित है। पूर्वापरदोष के हेतुभूत सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष के अभाव से जिन्होंने आप्तता प्राप्त की है; उनके मुख से निकला होने से वह जिनोपदेश पूर्णत: निर्दोष है।

दूसरी बात यह है कि वस्तुत: समस्त आगम के अर्थ को सार्थकता पूर्वक प्रतिपादन करने में समर्थ, नियम शब्द से संसूचित विशुद्ध मोक्षमार्ग, पंचास्तिकाय के प्रतिपादन में समर्थ, पंचाचार के विस्तृत प्रतिपादन से संचित, छह द्रव्यों से विचित्र, सात और नौ पदार्थों का निरूपण है गर्भ में जिसके, पाँच भावों के विस्तृत प्रतिपादन में परायण, निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, परमालोचना, नियम, व्युत्सर्ग आदि सभी परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से समृद्ध, तीन उपयोगों के कथन से सम्पन्न ह्न ऐसे इस परमेश्वरकथित नियमसार नामक शास्त्र के तात्पर्य को दो प्रकार से निरूपित किया जाता है ह्न सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य।

सूत्रतात्पर्य तो गाथारूप पद्य कथन के माध्यम से प्रत्येक गाथा सूत्र में यथास्थान प्रतिपादित किया गया है और अब शास्त्र तात्पर्य यहाँ टीका में प्रतिपादित किया जा रहा है; जो इसप्रकार है ह्न

यह नियमसार शास्त्र भागवत शास्त्र है, भगवान द्वारा प्रतिपादित शास्त्र है। जो महापुरुष; निर्वाण सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले परम वीतरागात्मक, अव्याबाध, निरन्तर अतीन्द्रिय परमानन्द देनेवाले; निरतिशय, नित्य शुद्ध, निरंजन, निज कारणपरमात्म की भावना के कारण; समस्त नय समूह से शोभित, पंचमगति के हेतुभूत, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी निर्ग्रन्थ मुनिवर से रचित इस नियमसार नामक भागवत शास्त्र को निश्चयनय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं; वे महापुरुष समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को जाननेवाले और परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी, बाह्याभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच के त्यागी, त्रिकाल, निरुपाधि स्वरूप में लीन निज कारणपरमात्मा के स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणात्मक भेदोपचार कल्पना निरपेक्ष स्वस्थ रत्नत्रय में परायण होकर वर्तते हुए शब्द ब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।''

पूज्य स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महामुनि निर्ग्रन्थ संत थे। छठवें-सातवें गुणस्थान के आत्मा के आनन्द में वर्तते थे।[१]

टीकाकार कहते हैं कि यह शास्त्र भागवत शास्त्र है, दैवीयशास्त्र है, पारमेश्वर शास्त्र है; भगवान का किया हुआ भागवत है। ऐसे शास्त्र को अपने आत्मा की निज भावना के लिए रचा है। दूसरे जीवों को समझाने की मुख्यता से यह शास्त्र नहीं रचा है।[२]

वे आगे कहते हैं कि वीतरागी गुरु के प्रसाद से जिनेन्द्रदेव के उपदेश को जानकर मैंने यह शास्त्र बनाया है। ऐसा कहकर आचार्यदेव मूलरूप से सर्वज्ञदेव की परम्परा की घोषणा कर रहे हैं।[३]

क्रियाकाण्ड अर्थात् क्रियाओं का समूह। जो शरीरादि की क्रियायें होती हैं, **वे जड़क्रियाकाण्ड हैं।** वे आत्मा के धर्म की अथवा पुण्य-पाप की कारण नहीं हैं। आत्मा में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह विकारी क्रियाकाण्ड है; उससे धर्म नहीं होता है; परन्तु वह बंध का कारण है। आत्मा के परमस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, निश्चय प्रत्याख्यान आदि वीतरागी क्रिया प्रगट होती है, वह **धर्म का क्रियाकाण्ड है, वह मोक्ष का कारण है। इस परमार्थ क्रियाकाण्ड का इस शास्त्र में बहुत वर्णन किया है।** तथा शुभ-अशुभ तथा शुद्ध - ऐसे तीन प्रकार के उपयोग का वर्णन भी इसमें आ जाता है। इन तीनों में **शुद्धोपयोग आत्मा के केवलज्ञान का कारण हैं।**[४]

तथा यह शास्त्र समस्त नयों के समूह से शोभित है। निश्चय और व्यवहार नयों का इसमें अनेक भेदों से कथन किया गया है।

आचार्यदेव ने १८७ गाथाओं में बहुत मर्म भर दिया है। १+८+७

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५५४
२. वही, पृष्ठ १५५४-१५५५
३. वही, पृष्ठ १५५५
४. वही, पृष्ठ १५५८-१५५९

= १६ होता है। इसप्रकार इस शास्त्र में सोलह आने परिपूर्ण बात आ गई है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में कहा गया है कि यह शास्त्र मैंने अपनी भावना की पुष्टि के निमित्त से बनाया है। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं प्रतिदिन इस ग्रन्थ का पाठ करते थे। वे कहते हैं कि मैंने तो यह शास्त्र अपनी कल्पना से नहीं बनाया है; पूर्वापर दोष से रहित जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार बनाया है। अत: यह पूर्णत: निर्दोष शास्त्र है।

इस गाथा की टीका में टीकाकार **किंच** कहकर अनेक विशेषण लगाकर कहते हैं कि इस नियमसार नामक शास्त्र के तात्पर्य को दो प्रकार से जाना जा सकता है ह्न सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य।

सूत्रतात्पर्य तो प्रत्येक गाथा में बता दिया गया है और शास्त्रतात्पर्य शाश्वत सुख की प्राप्ति है।

इस अंश की विशेषता यह है कि इसके पूर्वार्ध में तो सभी अधिकारों में प्रतिपादित वस्तु का संक्षेप में उल्लेख किया गया है और उत्तरार्ध में नियमसार शास्त्र की महिमा के साथ इसके अध्ययन का फल भी बता दिया गया है। हम सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों का कर्त्तव्य है कि इसका स्वाध्याय अत्यन्त भक्तिभाव से गहराई से अवश्य करें।।१८७।।

इसप्रकार इस नियमसार शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति टीका की पूर्णाहुति करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव चार छन्द लिखते हैं; जिसमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्तं
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत्।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप:।।३०८।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५६०

(हरिगीत)

सुकविजन पंकजविकासी रवि मुनिवर देव ने।
ललित सूत्रों में रचा इस परमपावन शास्त्र को।।
निज हृदय में धारण करे जो विशुद्ध आतमकांक्षी।
वह परमश्री वल्लभा का अती वल्लभ लोक में।।३०८।।

सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देने, विकसित करनेवाले सूर्य श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव के द्वारा ललित पद समूहों में रचे हुए इस उत्तम शास्त्र को जो विशुद्ध आत्मा का आकांक्षी जीव निज मन में धारण करता है; वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से मोक्षमार्ग होता है और उसका फल मोक्ष है। उन दोनों का वर्णन आचार्यदेव ने किया है और कहा है कि इस शास्त्र का फल परमानन्दमय मोक्षदशा की प्राप्ति होना है।[१]

भगवान कुन्दकुन्ददेव ने इस शास्त्र में अन्तर के ज्ञायकस्वभाव को बताया है। उस शुद्धात्मस्वभाव को समझकर जो जीव हृदय में धारण करता है अर्थात् उसकी पहचान करके उसमें लीन होता है; वह जीव अपनी मोक्षपरिणति का स्वामी होता है। उस मोक्षपरिणति का उसे कभी विरह नहीं होता है।[२]

अर्थात् द्रव्य को अपनी शुद्ध पर्याय का कभी वियोग नहीं होता है। ऐसी मोक्षदशा की प्राप्ति - इस शास्त्र का फल है।[३]''

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि इस परमपावन शास्त्र में प्रतिपादित मर्म को अपने चित्त में धारण करनेवाले आत्मार्थियों को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५६१-१५६२
२. वही, पृष्ठ १५६२
३. वही, पृष्ठ १५६३

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

पद्मप्रभाभिधानोद्घसिन्धुनाथसमुद्भवा ।
उपन्यासोर्भिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ।।३०९।।

(हरिगीत)

पद्मप्रभमलधारि नामक विरागी मुनिदेव ने।
अति भावना से भावमय टीका रची मनमोहनी ।।
पद्मसागरोत्पन्न यह है उर्मियों की माल जो।
कण्ठाभरण यह नित रहे सज्जनजनों के चित्त में ।।३०९।।

पद्मप्रभ नाम के उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली यह उर्मिमाला-लहरों की माला-कथनी सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहो।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि **जिसप्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं, उछलती हैं; उसीप्रकार यह शास्त्र नियमसार पढकर मेरे मनरूपी समुद्र में उसकी टीका लिखने के भाव उछलते हैं; अत: मैंने यह टीका लिखी है। मेरी एकमात्र भावना यह है कि इससे लाभ लेनेवाले आत्मार्थी सत्पुरुषों के हृदय में यह सदा स्थित रहे।।३०९।।**

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ।।३१०।।

(दोहा)

यदि इसमें कोइ पद लगे लक्षण शास्त्र विरुद्ध।
भद्रकवि रखना वहाँ उत्तम पद अविरुद्ध ।।३१०।।

यदि इस टीका में कोई पद लक्षणशास्त्र के विरुद्ध हो तो भद्र कविगण उसका लोप करके उसके स्थान पर उत्तमपद रख देवें ह्न ऐसा मेरा अनुरोध है।

ध्यान रहे यहाँ टीकाकार मुनिराज भाव की भूल स्वीकार नहीं कर रहे हैं; क्योंकि उन्हें पक्का भरोसा है कि उनकी लेखनी से भाव संबंधी

भूल तो हो ही नहीं सकती। उनका तो मात्र इतना ही कहना है कि किसी छन्द में छन्द शास्त्र के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो सज्जन पुरुष उसे सुधार लेवें।।३१०।।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे
तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिंबम् ।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः
स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ।।३११।।

(हरिगीत)

तारागण से मण्डित शोभे नील गगन में।
अरे पूर्णिमा चन्द्र चाँदनी जबतक नभ में।।
हेयवृत्ति नाशक यह टीका तबतक शोभे।
नित निज में रत सत्पुरुषों के हृदय कमल में।।३११।।

जबतक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्रबिम्ब सुन्दर आकाश में शोभायमान रहे; तबतक यह हेयवृत्तियों को निरस्त करनेवाली तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका सत्पुरुषों के विशाल हृदय में स्थित रहे।

यह मंगल आशीर्वादात्मक अंतमंगल है; जिसमें यावद् चन्द्रदिवाकरो की शैली में यह कहा गया है कि जबतक आकाश में चन्द्रमा रहे तबतक अर्थात् अनंतकाल तक यह टीका सज्जनों के हृदय कमल में विराजमान रहे।।३११।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धोपयोगाधिकार नामक बारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** •

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। **ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-२०**

गाथा पद्यानुवाद

परमसमाधि अधिकार

(हरिगीत)

वचन उच्चारण क्रिया तज वीतरागी भाव से।
ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे॥१२२॥
संयम नियम तप धरम एवं शुक्ल सम्यक् ध्यान से।
ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे॥१२३॥
वनवास कायक्लेशमय उपवास अध्ययन मौन से।
अरे समताभाव बिन क्या लाभ श्रमणाभास को॥१२४॥
जो विरत हैं सावद्य से अर तीन गुप्ति सहित हैं।
उन जितेन्द्रिय संत को जिन कहें सामायिक सदा॥१२५॥
त्रस और थावर के प्रति अर सर्वजीवों के प्रति।
समभाव धारक संत को जिन कहें सामायिक सदा॥१२६॥
आतमा है पास जिनके नियम-संयम-तप विषैं।
उन आत्मदर्शी संत को जिन कहें सामायिक सदा॥१२७॥
राग एवं द्वेष जिसका चित्त विकृत न करें।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा॥१२८॥
आर्त एवं रौद्र से जो सन्त नित वर्जित रहें।
उन आत्मध्यानी संत को जिन कहें सामायिक सदा॥१२९॥
जो पुण्य एवं पाप भावों के निषेधक हैं सदा।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा॥१३०॥
जो रहित हैं नित रति-अरति उपहास अर शोकादि से।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा॥१३१॥
जो जुगुप्सा भय वेद विरहित नित्य निज में रत रहें।
उन वीतरागी सन्त को जिन कहें सामायिक सदा॥१३२॥
जो धर्म एवं शुक्लध्यानी नित्य ध्यावें आतमा।
उन वीतरागी सन्त को जिन कहें सामायिक सदा॥१३३॥

परमभक्ति अधिकार

भक्ति करें जो श्रमण श्रावक ज्ञान-दर्शन-चरण की।
निरवृत्ति भक्ति उन्हें हो इस भाँति सब जिनवर कहें॥१३४॥
मुक्तिगत नरश्रेष्ठ की भक्ति करें गुणभेद से।
वह परमभक्ति कही है जिनसूत्र में व्यवहार से॥१३५॥
जो थाप निज को मुक्तिपथ भक्ति निवृत्ति की करें।
वे जीव निज असहाय गुण सम्पन्न आतम को वरें॥१३६॥
जो साधु आतम लगावे रागादि के परिहार में।
वह योग भक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं॥१३७॥
जो साधु आतम लगावे सब विकल्पों के नाश में।
वह योगभक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं॥१३८॥
जिनवर कथित तत्त्वार्थ में निज आतमा को जोड़ना।
ही योग है यह जान लो विपरीत आग्रह छोड़कर॥१३९॥
वृषभादि जिनवरदेव ने पाया परम निर्वाण सुख।
इस योगभक्ति से अतः इस भक्ति को धारण करो॥१४०॥

निश्चयपरमावश्यक अधिकार

जो अन्य के वश नहीं कहते कर्म आवश्यक उसे।
कर्मनाशक योग को निर्वाण मार्ग कहा गया॥१४१॥
जो किसी के वश नहीं वह अवश उसके कर्म को।
कहे आवश्यक वही है युक्ति मुक्ति उपाय की॥१४२॥
अशुभभाव सहित श्रमण है अन्यवश बस इसलिये।
उसे आवश्यक नहीं यह कथन है जिनदेव का॥१४३॥
वे संयमी भी अन्यवश हैं जो रहें शुभभाव में।
उन्हें आवश्यक नहीं यह कथन है जिनेदव का॥१४४॥
विकल्पों में मन लगावें द्रव्य-गुण-पर्याय के।
अरे वे भी अन्यवश निर्मोहजिन ऐसा कहें॥१४५॥
परभाव को परित्याग ध्यावे नित्य निर्मल आतमा।
वह आत्मवश है इसलिए ही उसे आवश्यक कहे॥१४६॥

आवश्यकों की चाह हो थिर रहो आत्मस्वभाव में।
इस जीव के हो पूर्ण सामायिक इसी परिणाम से ।।१४७।।
जो श्रमण आवश्यक रहित चारित्र से अति भ्रष्ट वे।
पूर्वोक्त क्रम से इसलिए तुम नित्य आवश्यक करो ।।१४८।।
श्रमण आवश्यक सहित हैं शुद्ध अन्तर-आत्मा।
श्रमण आवश्यक रहित बहिरातमा हैं जान लो ।।१४९।।
जो रहे अन्तरबाह्य जल्पों में वही बहिरातमा।
पर न रहे जो जल्प में है वही अन्तर आतमा ।।१५०।।
हैं धरम एवं शुकल परिणत श्रमण अन्तर आतमा।
पर ध्यान विरहित श्रमण है बहिरातमा यह जान लो ।।१५१।।
प्रतिक्रमण आदिक क्रिया निश्चयचरित धारक श्रमण ही।
हैं वीतरागी चरण में आरूढ़ केवलि जिन कहें ।।१५२।।
वचनमय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान अर आलोचना।
बाचिक नियम अर ये सभी स्वाध्याय के ही रूप हैं ।।१५३।।
यदि शक्य हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना चाहिए।
यदि नहीं हो शक्ति तो श्रद्धान ही कर्त्तव्य है ।।१५४।।
जिनवरकथित जिनसूत्र में प्रतिक्रमण आदिक जो कहे।
कर परीक्षा फिर मौन से निजकार्य करना चाहिए ।।१५५।।
हैं जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही।
अतएव वर्जित बाद है निज पर समय के साथ भी ।।१५६।।
ज्यों निधी पाकर निजवतन में गुप्त रह जन भोगते।
त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते ।।१५७।।
यों सभी पौराणिक पुरुष आवश्यकों को धारकर।
अप्रमत्तादिक गुणस्थानक पार कर केवलि हुए ।।१५८।।

शुद्धोपयोग अधिकार

निज आतमा को देखें-जानें केवली परमार्थ से।
पर जानते हैं देखते हैं सभी को व्यवहार से ।।१५९।।
ज्यों ताप और प्रकाश रवि में एकसाथ रहें सदा।
त्यों केवली के ज्ञान-दर्शन एकसाथ रहें सदा ।।१६०।।

परप्रकाशक ज्ञान दर्शन स्वप्रकाशक इसतरह।
स्वपरप्रकाशक आत्मा है मानते हो तुम यदि ।।१६१।।
पर का प्रकाशक ज्ञान तो दृग भिन्न होगा ज्ञान से।
पर को न देखे दर्श ह्न ऐसा कहा तुमने पूर्व में ।।१६२।।
पर का प्रकाशक आत्म तो दृग भिन्न होगा आत्म से।
पर को न देखे दर्श ह्न ऐसा कहा तुमने पूर्व में ।।१६३।।
परप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा व्यवहार से।
अर परप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा व्यवहार से ।।१६४।।
निजप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा परमार्थ से।
अर निजप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा परमार्थ से ।।१६५।।
देखे-जाने स्वयं को पर को नहीं जिनकेवली।
यदि कहे कोई इसतरह उसमें कहो है दोष क्या ? ।।१६६।।
चेतन-अचेतन मूर्त और अमूर्त सब जग जानता।
वह ज्ञान है प्रत्यक्ष अर उसको अतीन्द्रिय जानना ।।१६७।।
विविध गुण पर्याय युत वस्तु न जाने जीव जो।
परोक्षदृष्टि जीव वे जिनवर कहें इस लोक में ।।१६८।।
सब विश्व देखें केवली निज आत्मा देखें नहीं।
यदि कहे कोई इसतरह उसमें कहो है दोष क्या ? ।।१६९।।
ज्ञान जीवस्वरूप इससे जानता है जीव को।
जीव से हो भिन्न वह यदि नहीं जाने जीव को ।।१७०।।
आत्मा है ज्ञान एवं ज्ञान आतम जानिये।
संदेह न बस इसलिए निजपरप्रकाशक ज्ञान दृग ।।१७१।।
जानते अर देखते इच्छा सहित वर्तन नहीं।
बस इसलिए हैं अबंधक अर केवली भगवान वे ।।१७२।।
बंध कारण जीव के परिणामपूर्वक वचन हैं।
परिणाम विरहित वचन केवलिज्ञानियों को बंध न ।।१७३।।
ईहापूर्वक वचन ही हों बंधकारण जीव को।
ईहा रहित हैं वचन केवलिज्ञानियों को बंध न ।।१७४।।
खड़े रहना बैठना चलना न ईहापूर्वक।
बंधन नहीं अर मोहवश संसारी बंधन में पड़े ।।१७५।।

फिर आयुक्षय से शेष प्रकृति नष्ट होती पूर्णत: ।
फिर शीघ्र ही इक समय में लोकाग्रथित हों केवली ।।१७६।।

शुद्ध अक्षय करम विरहित जनम मरण जरा रहित ।
ज्ञानादिमय अविनाशि चिन्मय आतमा अक्षेद्य है ।।१७७।।

पुणपापविरहित नित्य अनुपम अचल अव्याबाध है ।
अनालम्ब अतीन्द्रियी पुनरागमन से रहित है ।।१७८।।

न जनम है न मरण है सुख-दुख नहीं पीड़ा नहीं ।
बाधा नहीं वह दशा ही निर्बाध है निर्वाण है ।।१७९।।

इन्द्रियाँ उपसर्ग एवं मोह विस्मय भी नहीं ।
निद्रा तृषा अर क्षुधा बाधा है नहीं निर्वाण में ।।१८०।।

कर्म अर नोकर्म चिन्ता आर्त्त रौद्र नहीं जहाँ ।
ध्यान धरम शुकल नहीं निर्वाण जानो है वहाँ ।।१८१।।

अरे केवलज्ञानदर्शन नंतवीरजसुख जहाँ ।
अमूर्तिक अर बहुप्रदेशी अस्तिमय आतम वहाँ ।।१८२।।

निर्वाण ही सिद्धत्व है सिद्धत्व ही निर्वाण है ।
लोकाग्र तक जाता कहा है कर्मविरहित आतमा ।।१८३।।

जीव अर पुद्गलों का बस वहाँ तक ही गमन है ।
जहाँ तक धर्मास्ति है आगे न उनका गमन है ।।१८४।।

नियम एवं नियमफल को कहा प्रवचनभक्ति से ।
यदी विरोध दिखे कहीं समयज्ञ संशोधन करें ।।१८५ ।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की ।
छोड़ो न भक्ति वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की ।।१८६।।

जान जिनवरदेव के निर्दोष इस उपदेश को ।
निज भावना के निमित मैंने किया है इस ग्रंथ को ।।१८७।।

●●●

कलश पद्यानुवाद

(हरिगीत)

समाधि बल से मुमुक्षु उत्तमजनों के हृदय में ।
स्फुरित समताभावमय निज आतमा की संपदा ।।
जबतक न अनुभव करें हम तबतक हमारे योग्य जो ।
निज अनुभवन का कार्य है वह हम नहीं हैं कर रहे ।।२००।।

निर्विकल्पक समाधि में नित रहें जो आतमा ।
उस निर्विकल्पक आतमा को नमन करता हूँ सदा ।।२०१।।

विपिन शून्य प्रदेश में गहरी गुफा के वास से ।
इन्द्रियों के रोध अथवा तीर्थ के आवास से ।।
पठन-पाठन होम से जपजाप अथवा ध्यान से ।
है नहीं सिद्धि खोजलो पथ अन्य गुरु के योग से ।।६४ ।।[1]

अनशनादि तपस्या समता रहित मुनिजनों की ।
निष्फल कही है इसलिए गंभीरता से सोचकर ।।
और समताभाव का मंदिर निजातमराम जो ।
उस ही निराकुलतत्त्व को भज लो निराकुलभाव से ।।२०२।।

संसारभय के हेतु जो सावद्य उनको छोड़कर ।
मनवचनतन की विकृति से पूर्णत: मुख मोड़कर ।।
अरे अन्तर्शुद्धि से सद्ज्ञानमय शुद्धातमा ।
को जानकर समभावमयचारित्र को धारण करें ।।२०३।।

जिन मुनिवरों का चित्त नित त्रस-थावरों के त्रास से ।
मुक्त हो सम्पूर्णत: अन्तिम दशा को प्राप्त हो ।।
उन मुनिवरों को नमन करता भावना भाता सदा ।
स्तवन करता हूँ निरन्तर मुक्ति पाने के लिए ।।२०४।।

---

१. अमृताशीति, श्लोक ५९

(दोहा)

कोई वर्ते द्वैत में अर कोई अद्वैत।
द्वैताद्वैत विमुक्तमग हम वर्तें समवेत ॥२०५॥

कोई चाहे द्वैत को अर कोई अद्वैत।
द्वैताद्वैत विमुक्त जिय मैं वंदूँ समवेत ॥२०६॥

(सोरठा)

थिर रह सुख के हेतु अज अविनाशी आत्म में।
भाऊँ बारंबार निज को निज से निरन्तर ॥२०७॥

(हरिगीत)

संसार के जो हेतु हैं इन विकल्पों के जाल से।
क्या लाभ है हम जा रहे नयविकल्पों के पार अब ॥
नयविकल्पातीत सुखमय अगम आतमराम को।
वन्दन करूँ कर जोड़ भवभय नाश करने के लिए ॥२०८॥

अच्छे बुरे निजकार्य से सुख-दुःख हों संसार में।
पर आतमा में हैं नहीं ये शुभाशुभ परिणाम सब ॥
क्योंकि आतमराम तो इनसे सदा व्यतिरिक्त है।
स्तुति करूँ मैं उसी भव से भिन्न आतमराम की ॥२०९॥

प्रगट अपने तेज से अति प्रबल तिमिर समूह को।
दूर कर क्षणमात्र में ही पापसेना की ध्वजा ॥
हरण कर ली जिस महाशय प्रबल आतमराम ने।
जयवंत है वह जगत में चित्चमत्कारी आतमा ॥२१०॥

गणधरों के मनकमल थित प्रगट शुध एकान्ततः।
भवकारणों से मुक्त चित् सामान्य में है रत सदा ॥
सद्‌दृष्टियों को सदागोचर आत्ममहिमालीन जो।
जयवंत है भव अन्तकारक अनघ आतमराम वह ॥२११॥

शुद्ध सम्यग्दृष्टिजन जाने कि संयमवंत के।
तप-नियम-संयम-चरित में यदि आतमा ही मुख्य है ॥
तो सहज समताभाव निश्चित जानिये हे भव्यजन।
भावितीर्थंकर श्रमण को भवभयों से मुक्त जो ॥२१२॥

(रोला)

किया पापतम नाश ज्ञानज्योति से जिसने।
परमसुखामृतपूर आतमा निकट जहाँ है ॥
राग-द्वेष न समर्थ उसे विकृत करने में।
उस समरसमय आतम में है विधि-निषेध क्या ॥२१३॥

(सोरठा)

जो मुनि छोड़े नित्य आर्त्त-रौद्र ये ध्यान दो।
सामायिकव्रत नित्य उनको जिनशासन कथित ॥२१४॥

(हरिगीत)

संसार के जो मूल ऐसे पुण्य एवं पाप को।
छोड़ नित्यानन्दमय चैतन्य सहजस्वभाव को ॥
प्राप्त कर जो रमण करते आत्मा में निरंतर।
अरे त्रिभुवनपूज्य वे जिनदेवपद को प्राप्त हों ॥२१५॥

पुनपापरूपी गहनवन दाहक भयंकर अग्नि जो।
अर मोहतम नाशक प्रबल अति तेज मुक्तीमूल जो ॥
निरुपाधि सुख आनन्ददा भवध्वंस करने में निपुण।
स्वयंभू जो ज्ञान उसको नित्य करता मैं नमन ॥२१६॥

आकुलित होकर जी रहा जिय अघों के समुदाय से।
भववधू का पति बनकर काम सुख अभिलाष से ॥
भव्यत्व द्वारा मुक्ति सुख वह प्राप्त करता है कभी।
अनूपम सिद्धत्वसुख से फिर चलित होता नहीं ॥२१७॥

मोहान्ध जीवों को सुलभ पर आत्मनिष्ठ समाधिरत।
जो जीव हैं उन सभी को है महादुर्लभ भाव जो ॥
वह भवस्त्री उत्पन्न सुख-दुखश्रेणिकारक रूप है।
मैं छोड़ता उस भाव को जो नोकषायस्वरूप है ॥२१८॥

इस अनघ आनन्दमय निजतत्त्व के अभ्यास से।
है बुद्धि निर्मल हुई जिनकी धर्म शुक्लध्यान से ॥
मन वचन मग से दूर हैं जो वे सुखी शुद्धातमा।
उन रतनत्रय के साधकों को प्राप्त हो निज आतमा ॥२१९॥

(हरिगीत)

संसारभयहर ज्ञानदर्शनचरण की जो संयमी।
श्रावक करें भव अन्तकारक अतुल भक्ती निरन्तर॥
वे काम क्रोधादिक अखिल अघ मुक्त मानस भक्तगण।
ही लोक में जिनभक्त सहृदय और सच्चे भक्त हैं॥२२०॥

(दोहा)

सिद्धवधूधव सिद्धगण नाशक कर्मसमूह।
मुक्तिनिलयवासी गुणी वंदन करूँ सदीव॥२२१॥

सिद्धभक्ति व्यवहार है जिनमत के अनुसार।
नियतभक्ति है रतनत्रय भविजन तारणहार॥२२२॥

सब दोषों से दूर जो शुद्धगुणों का धाम।
आत्मध्यानफल सिद्धपद सूरि कहें सुखधाम॥२२३॥

(दोहा)

सिद्धवधूधव सिद्धगण नाशक कर्मसमूह।
मुक्तिनिलयवासी गुणी वंदन करूँ सदीव॥२२१॥

सिद्धभक्ति व्यवहार है जिनमत के अनुसार।
नियतभक्ति है रतनत्रय भविजन तारणहार॥२२२॥

सब दोषों से दूर जो शुद्धगुणों का धाम।
आत्मध्यानफल सिद्धपद सूरि कहें सुखधाम॥२२३॥

(हरिगीत)

शिववधूसुखखान केवलसंपदा सम्पन्न जो।
पापाटवी पावक गुणों की खान हैं जो सिद्धगण॥
भवक्लेश सागर पार अर लोकाग्रवासी सभी को।
वंदन करूँ मैं नित्य पाऊँ परमपावन आचरण॥२२४॥

ज्ञेयोदधि के पार को जो प्राप्त हैं वे सुख उदधि।
शिववधूमुखकमलरवि स्वाधीनसुख के जलनिधि॥
आठ कर्मों के विनाशक आठगुणमय गुणगुरु।
लोकाग्रवासी सिद्धगण की शरण में मैं नित रहूँ॥२२५॥

(हरिगीत)

सुसिद्धिरूपी रम्यरमणी के मधुर रमणीय मुख।
कमल के मकरंद के अलि वे सभी जो सिद्धगण॥
नरसुरगणों की भक्ति के जो योग्य शिवमय श्रेष्ठ हैं।
मैं उन सभी को परमभक्ति भाव से करता नमन॥२२६॥

शिवहेतु निरुपम सहज दर्शन ज्ञान सम्यक् शीलमय।
अविचल त्रिकाली आत्मा में आत्मा को थाप कर॥
चिच्चमत्कारी भक्ति द्वारा आपदाओं से रहित।
घर में बसें आनन्द से शिव रमापति चिरकाल तक॥२२७॥

(दोहा)

निज आतम के यत्न से मनगति का संयोग।
निज आतम में होय जो वही कहावे योग॥६५॥[१]

निज आतम में आतमा को जोड़े जो योगि।
योग भक्ति वाला वही मुनिवर निश्चय योगि॥२२८॥

आत्मलब्धि रूपा मुकति योगभक्ति से होय।
योगभक्ति सर्वोत्तमा भेदाभावे होय॥२२९॥

छोड़ दुराग्रह जैन मुनि मुख से निकले तत्त्व।
में जोड़े निजभाव तो वही भाव है योग॥२३०॥

(वीरछन्द)

शुद्धपरिणति गुणगुरुओं की अद्भुत अनुपम अति निर्मल।
तीन लोक में फैल रही है जिनकी अनुपम कीर्ति धवल॥
इन्द्रमुकुटमणियों से पूजित जिनके पावन चरणाम्बुज।
उन ऋषभादि परम गुरुओं को वंदन बारंबार सहज॥२३१॥

ऋषभदेव से महावीर तक इसी मार्ग से मुक्त हुए।
इसी विधि से योगभक्ति कर शिवरमणी सुख प्राप्त किये॥२३२॥

(दोहा)

मैं भी शिवसुख के लिए योगभक्ति अपनाऊँ।
भव भय से हे भव्यजन इसको ही अपनाओ॥२३३॥

---

१. श्लोक संख्या एवं ग्रंथ का नाम अनुपलब्ध है।

(वीरछन्द)

गुरुदेव की सत्संगति से सुखकर निर्मल धर्म अजोड़।
पाकर मैं निर्मोह हुआ हूँ राग-द्वेष परिणति को छोड़॥
शुद्धध्यान द्वारा मैं निज को ज्ञानानन्द तत्त्व में जोड़।
परमब्रह्म निज परमातम में लीन हो रहा हूँ बेजोड़॥२३४॥

(दोहा)

इन्द्रिय लोलुप जो नहीं तत्त्वलोलुपी चित्त।
उनको परमानन्दमय प्रगटे उत्तम तत्त्व॥२३५॥

अति अपूर्व आतमजनित सुख का करें प्रयत्न।
वे यति जीवन्मुक्त हैं अन्य न पावे सत्य॥२३६॥

(हरिगीत)

अद्वन्द्व में है निष्ट एवं अनघ जो दिव्यातमा।
मैं एक उसकी भावना संभावना करता सदा॥
मैं मुक्ति का चाहक तथा हूँ निष्पृही भवसुखों से।
है क्या प्रयोजन अब मुझे इन परपदार्थ समूह से॥२३७॥

(मनहरण)

विलीन मोह-राग-द्वेष मेघ चहुं ओर के,
चेतना के गुणगण कहाँ तक बखानिये।
अविचल जोत निष्कंप रत्नदीप सम,
विलसत सहजानन्द मय जानिये॥
नित्य आनंद के प्रशमरस में मगन,
शुद्ध उपयोग का महत्त्व पहिचानिये।
नित्य ज्ञानतत्त्व में विलीन यह आतमा,
स्वयं धर्मरूप परिणत पहिचानिये॥६६॥[१]

(रोला)

जो सत् चित् आनन्दमयी निज शुद्धातम में।
रत होने से अरे स्ववशताजन्य कर्म हो॥
वह आवश्यक परम करम ही मुक्तिमार्ग है।
उससे ही मैं निर्विकल्प सुख को पाता हूँ॥२३८॥

१. प्रवचनसार, कलश ५

(रोला)

निज आतम से भिन्न किसी के वश में न हो।
स्वहित निरत योगी नित ही स्वाधीन रहे जो॥
दुरिततिमिरनाशक अमूर्त्त ही वह योगी है।
यही निरुक्तिक अर्थ सार्थक कहा गया है॥२३९॥

(ताटंक)

त्रिभुवन घर में तिमिर पुंज सम मुनिजन का यह घन नव मोह।
यह अनुपम घर मेरा है - यह याद करें निज तृण घर छोड़॥२४०॥

ग्रन्थ रहित निर्ग्रंथ पाप बन दहें पुजें इस भूतल में।
सत्यधर्म के रक्षामणि मुनि विरहित मिथ्यामल कलि में॥२४१॥

मतिमानों को अतिप्रिय एवं शत इन्द्रों से अर्चित तप।
उसको भी पाकर जो मन्मथ वश है कलि से घायल वह॥२४२॥

मुनि होकर भी अरे अन्यवश संसारी है, दुखमय है।
और स्ववशजन सुखी मुक्त रे बस जिनवर से कुछ कम है॥२४३॥

अतःएव श्री जिनवर पथ में स्ववश मुनि शोभा पाते।
और अन्यवश मुनिजन तो बस चमचों सम शोभा पाते॥२४४॥

अतः मुनिवरो देवलोक के क्लेशों से रति को छोड़ो।
सुख-ज्ञान पूर नय-अनय दूर निज आतम में निज को जोड़ो॥२४५॥

(दोहा)

ब्रह्मनिष्ठ मुनिवरों को दृष्टादृष्ट विरुद्ध।
आत्मकार्य को छोड़ क्या परचिन्ता से सिद्ध॥६७॥[१]

जबतक ईंधन युक्त है अग्नि बढ़े भरपूर।
जबतक चिन्ता जीव को तबतक भव का पूर॥२४६॥

(ताटंक)

शुद्धबोधमय मुक्ति सुन्दरी को प्रमोद से प्राप्त करें।
भवकारण का नाश और सब कर्मावलि का हनन करें॥
वर विवेक से सदा शिवमयी परवशता से मुक्त हुए।
वे उदारधी संत शिरोमणि स्ववश सदा जयवन्त रहें॥२४७॥

१. ग्रंथ का नाम एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

(दोहा)

काम विनाशक अवंचक पंचाचारी योग्य।
मुक्तिमार्ग के हेतु हैं गुरु के वचन मनोज्ञ ।।२४८।।

जिनप्रतिपादित मुक्तिमग इसप्रकार से जान।
मुक्ति संपदा जो लहे उसको सतत् प्रणाम।।२४९।।

(रोला)

कनक कामिनी की वांछा का नाश किया हो।
सर्वश्रेष्ठ है सभी योगियों में जो योगी ।।
काम भील के काम तीर से घायल हम सब।
हे योगी तुम भववन में हो शरण हमारी ।।२५०।।

अनशनादि तप का फल केवल तन का शोषण।
अन्य न कोई कार्य सिद्ध होता है उससे ।।
हे स्ववश योगि ! तेरे चरणों के नित चिन्तन से।
शान्ति पा रहा सफल हो रहा मेरा जीवन ।।२५१।।

समता रस से पूर्ण भरा होने से पावन।
निजरस के विस्तार पूर से सब अघ धोये ।।
स्ववश हृदय में संस्थित जो पुराण पावन है।
शुद्धसिद्ध वह तेजराशि जयवंत जीव है ।।२५२।।

(दोहा)

वीतराग सर्वज्ञ अर आत्मवशी गुरुदेव।
इनमें कुछ अन्तर नहीं हम जड़ माने भेद ।।२५३।।

स्ववश महामुनि अनन्यधी और न कोई अन्य।
सरव करम से बाह्य जो एकमात्र वे धन्य ।।२५४।।

(सोरठा)

प्रगटें दोष अनंत, यदि मन भटके आत्म से।
यदि चाहो भव अंत, मगन रहो निज में सदा ।।६८ ।।[१]

१. अमृताशीति, श्लोक ६४

(रोला)

अतिशय कारण मुक्ति सुन्दरी के सम सुख का।
निज आतम में नियत चरण भवदुख का नाशक ।।
जो मुनिवर यह जान अनघ निज समयसार को।
जाने वे मुनिनाथ पाप अटवी को पावक ।।२५५।।

(दोहा)

आवश्यक प्रतिदिन करो अघ नाशक शिव मूल।
वचन अगोचर सुख मिले जीवन में भरपूर ।।२५६।।

निज आतम का चिन्तवन स्ववश साधु के होय।
इस आवश्यक करम से उनको शिवसुख होय ।।२५७।।

(रोला)

परमातम से भिन्न सभी जिय बहिरातम अर।
अन्तर आतमरूप कहे हैं दो प्रकार के ।।
देह और आतम में धारे अहंबुद्धि जो।
वे बहिरातम जीव कहे हैं जिन आगम में ।।६९।।[१]

अन्तरात्मा उत्तम मध्यम जघन कहे हैं।
क्षीणमोह जिय उत्तम अन्तर आतम ही है ।।
अविरत सम्यग्दृष्टि जीव सब जघन कहे हैं।
इन दोनों के बीच सभी मध्यम ही जानो ।।७०।।[२]

योगी सदा परम आवश्यक कर्म युक्त हो।
भव सुख दुख अटवी से सदा दूर रहता है ।।
इसीलिए वह आत्मनिष्ठ अन्तर आतम है।
स्वात्मतत्त्व से भ्रष्ट आतमा बहिरातम है ।।२५८।।

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ।।
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ।।७१।।[३]

१. मार्गप्रकाश ग्रंथ में उद्धृत श्लोक २. वही ३. समयसार, श्लोक ९०

(हरिगीत)

संसारभयकर बाह्य-अंतरजल्प तज समरसमयी।
चित्चमत्कारी एक आतम को सदा स्मरण कर॥
ज्ञानज्योति से अरे निज आतमा प्रगटित किया।
वह क्षीणमोही जीव देखे परमतत्त्व विशेषत:॥२५९॥

(वीरछन्द)

धरम-शुकलध्यान समरस में जो वर्ते वे सन्त महान।
उनके चरणकमल की शरणा गहें नित्य हम कर सन्मान॥
धरम-शुकल से रहित तुच्छ मुनि कर न सके आतमकल्याण।
संसारी बहिरातम हैं वे उन्हें नहीं निज आतमज्ञान॥२६०॥

बहिरातम-अन्तरातम के शुद्धातम में उठें विकल्प।
यह कुबुद्धियों की परिणति है ये मिथ्या संकल्प-विकल्प॥
ये विकल्प भवरमणी को प्रिय इनका है संसार अनन्त।
ये सुबुद्धियों को न इष्ट हैं, उनका आया भव का अन्त॥२६१॥

(रोला)

दर्शन अर चारित्र मोह का नाश किया है।
भवसुखकारक कर्म छोड़ संन्यास लिया है॥
मुक्तिमूल मल रहित शील-संयम के धारक।
समरस-अमृतसिन्धु चन्द्र को नमन करूँ मैं॥२६२॥

मुक्ति सुन्दरी के दोनों अति पुष्ट स्तनों।
के आलिंगनजन्य सुखों का अभिलाषी हो॥
अरे त्यागकर जिनवाणी को अपने में ही।
थित रहकर वह भव्यजीव जग तृणसम निरखे॥२६३॥

(हरिगीत)

परीवर्तन वाँचना अर पृच्छना अनुप्रेक्षा।
स्तुति मंगल पूर्वक यह पंचविध स्वाध्याय है॥७२॥[1]

१. श्रीमूलाचार, पंचाचार अधिकार, गाथा २१९

(हरिगीत)

पापमय कलिकाल में जिननाथ के भी मार्ग में।
मुक्ति होती है नहीं निजध्यान संभव न लगे॥
तो साधकों को सतत आतमज्ञान करना चाहिए।
निज त्रिकाली आत्म का श्रद्धान करना चाहिए॥२६४॥

पशूवत् अल्पज्ञ जनकृत भयों को परित्याग कर।
शुभाशुभ भववर्धिनी सब वचन रचना त्याग कर॥
कनक-कामिनी मोह तज सुख-शांति पाने के लिए।
निज आतमा में जमे मुक्तीधाम जाने के लिए॥२६५॥

कुशल आत्मप्रवाद में परमात्मज्ञानी मुनीजन।
पशुजनों कृत भयंकर भय आत्मबल से त्याग कर॥
सभी लौकिक जल्प तज सुखशान्तिदायक आतमा।
को जानकर पहिचानकर ध्यावें सदा निज आतमा॥२६६॥

संसारकारक भेद जीवों के अनेक प्रकार हैं।
भव जन्मदाता कर्म भी जग में अनेक प्रकार हैं॥
लब्धियाँ भी हैं विविध इस विमल जिनमारगविषें।
स्वपरमत के साथ में न विवाद करना चाहिए॥२६७॥

पुण्योदयों से प्राप्त कांचन आदि वैभव लोक में।
गुप्त रहकर भोगते जन जिस तरह इस लोक में॥
उस तरह सद्ज्ञान की रक्षा करें धर्मातमा।
सब संग त्यागी ज्ञानीजन सद्ज्ञान के आलोक में॥२६८॥

(वीर छन्द)

जनम-मरण का हेतु परिग्रह अरे पूर्णत: उसको छोड़।
हृदय कमल में बुद्धिपूर्वक जगविराग में मन को जोड़॥
परमानन्द निराकुल निज में पुरुषारथ से थिर होकर।
मोह क्षीण होने पर तृणसम हम देखें इस जग की ओर॥२६९॥

(वीर)

अरे पुराण पुरुष योगीजन निज आतम आराधन से।
सभी करमरूपी राक्षस के पूरी तरह विराधन से॥
विष्णु-जिष्णु हुए उन्हीं को जो मुमुक्षु पूरे मन से।
नित्य नमन करते वे मुनिजन अघ अटवी को पावक हैं॥२७०॥

(वीर)

कनक-कामिनी गोचर एवं हेयरूप यह मोह छली।
इसे छोड़कर निर्मल सुख के लिए परम पावन गुरु से ।।
धर्म प्राप्त करके हे आत्मन् निरुपम निर्मल गुणधारी।
दिव्यज्ञान वाले आतम में तू प्रवेश कर सत्वर ही ।।२७१।।

(हरिगीत)

वस्तु के सत्यार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञान है।
स्व-पर अर्थों का प्रकाशक वह प्रदीप समान है ।।
वह निर्णयात्मक ज्ञान प्रमिति से कथंचित् भिन्न है।
पर आतमा से ज्ञानगुण से तो अखण्ड अभिन्न है ।।७३।।[१]

(रोला)

बंध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखंड यह ज्ञानदिवाकर ।।७४।।[२]

(हरिगीत)

सौभाग्यशोभा कामपीड़ा शिवश्री के वदन की।
बढ़ावें जो केवली वे जानते सम्पूर्ण जग ।।
व्यवहार से परमार्थ से मलक्लेश विरहित केवली।
देवाधिदेव जिनेश केवल स्वात्मा को जानते ।।२७२।।

अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है।
हैं नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं।।७५।।[३]

जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक।
पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये ।।७६।।[४]

१. महासेनदेव पण्डित द्वारा रचित श्लोक, ग्रंथ संख्या एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।
२. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १९२
३. प्रवचनसार, गाथा ६१
४. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४

(हरिगीत)

अज्ञानतम को सूर्यसम सम्पूर्ण जग के अधिपति।
हे शान्तिसागर वीतरागी अनूपम सर्वज्ञ जिन ।।
संताप और प्रकाश युगपत् सूर्य में हों जिसतरह।
केवली के ज्ञान-दर्शन साथ हों बस उसतरह ।।२७३।।

सद्बोधरूपी नाव से ज्यों भवोदधि को पारकर।
शीघ्रता से शिवपुरी में आप पहुँचे नाथवर ।।
मैं आ रहा हूँ उसी पथ से मुक्त होने के लिए।
अन्य कोई शरण जग में दिखाई देता नहीं ।।२७४।।

आप केवलभानु जिन इस जगत में जयवंत हैं।
समरसमयी निर्देह सुखदा शिवप्रिया के कंत हैं ।।
रे शिवप्रिया के मुखकमल पर कांति फैलाते सदा।
सुख नहीं दे निजप्रिया को है कौन ऐसा जगत में ।।२७५।।

(दोहा)

अरे भ्रमर की भांति तुम, शिवकामिनि लवलीन।
अद्वितीय आत्मीक सुख, पाया जिन अमलीन ।।२७६।।

(मनहरण कवित्त)

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब।
अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा ।।
भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब।
द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धातमा ।।
मोह का अभाव पररूप परिणमें नहीं।
सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा ।।
पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये।
सदा मुक्त रहें अरहंत परमातमा ।।७७।।[१]

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, छन्द ४

(मनहरण कवित्त)

ज्ञान इक सहज परमातमा को जानकर।
लोकालोक ज्ञेय के समूह को है जानता।
ज्ञान के समान दर्शन भी तो क्षायिक है।
वह भी स्वपर को है साक्षात् जानता।।
ज्ञान-दर्शन द्वारा भगवान आतमा।
स्वपर सभी ज्ञेयराशि को है जानता।।
ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ परमातमा।
स्वपरप्रकाशी निज भाव को प्रकाशता।।२७७।।

(कुण्डलिया)

अरे ज्ञान से आत्मा, नहीं सर्वथा भिन्न।
अर अभिन्न भी है नहीं, यह है भिन्नाभिन्न।।
यह है भिन्नाभिन्न कथंचित् नहीं सर्वथा।
अरे कथंचित् भिन्न अभिन्न भी किसी अपेक्षा।।
जैनधर्म में नहीं सर्वथा कुछ भी होता।
पूर्वापर जो ज्ञान आतमा वह ही होता।।७८।।[१]

(हरिगीत)

यह आतमा न ज्ञान है दर्शन नहीं है आतमा।
रे स्वपर जाननहार दर्शनज्ञानमय है आतमा।।
इस अघविनाशक आतमा अर ज्ञान-दर्शन में सदा।
भेद है नामादि से परमार्थ से अन्तर नहीं।।२७८।।

इन्द्रियविषयहिमरवि सम्यग्दृष्टि निर्मल आतमा।
रे ज्ञान-दर्शन धर्म से संयुक्त धर्मी आतमा।।
में अचलता को प्राप्त कर जो मुक्तिरमणी को वरें।
चिरकालतक वे जीव सहजानन्द में स्थित रहें।।२७९।।

अरे जिनके ज्ञान में सब द्रव्य लोकालोक के।
इसतरह प्रतिबिंबित हुए जैसे गुंथे हों परस्पर।।
सुरपती नरपति मुकुटमणि की माल से अर्चित चरण।
जयवंत हैं इस जगत में निर्दोष जिनवर के वचन।।७९।।[२]

१. महासेन पण्डितदेव , ग्रंथ नाम और श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।
२. श्रुतबिन्दु, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

(हरिगीत)

ज्ञान का घनपिण्ड आतम अरे निर्मल दृष्टि से।
है देखता सब लोक को इस लोक में व्यवहार से।।
मूर्त और अमूर्त सब तत्त्वार्थ को है जानता।
वह आतमा शिववल्लभा का परम वल्लभ जानिये।।२८०।।

परमार्थ से यह निजप्रकाशक ज्ञान ही है आतमा।
बाह्य आलम्बन रहित जो दृष्टि उसमय आतमा।।
स्वरस के विस्तार से परिपूर्ण पुण्य-पुराण यह।
निर्विकल्पक महिम एकाकार नित निज में रहे।।२८१।।

अत्यन्त अविचल और अन्तर्मग्न नित गंभीर है।
शुद्धि का आवास महिमावंत जो अति धीर है।।
व्यवहार के विस्तार से है पार जो परमातमा।
उस सहज स्वातमराम को नित देखता यह आतमा।।२८२।।

अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को।
स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है।।८०।।[१]

अनन्त शाश्वतधाम त्रिभुवनगुरु लोकालोक के।
रे स्व-पर चेतन-अचेतन सर्वार्थ जाने पूर्णतः।।
अरे केवलज्ञान जिनका तीसरा जो नेत्र है।
विदित महिमा उसी से वे तीर्थनाथ जिनेन्द्र हैं।।२८३।।

'मैं स्वयं सर्वज्ञ हूँ' ह्न इस मान्यता से ग्रस्त जो।
पर नहीं देखे जगतत्रय त्रिकाल को इक समय में।।
प्रत्यक्षदर्शन है नहीं ज्ञानाभिमानी जीव को।
उस जड़ात्मन को जगत में सर्वज्ञता हो किसतरह?।।२८४।।

उत्पादव्ययध्रुवयुत जगत यह वचन हे वदताम्बरः।
सर्वज्ञता का चिह्न है हे सर्वदर्शि जिनेश्वरः।।८१।।[२]

१. प्रवचनसार, गाथा ५४
२. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : भगवान मुनिसुव्रतनाथ की स्तुति, छन्द ११४

(हरिगीत)

रे केवली भगवान जाने पूर्ण लोक-अलोक को।
पर अनघ निजसुखलीन स्वातम को नहीं वे जानते ।।
यदि कोई मुनिवर यों कहे व्यवहार से इस लोक में।
उन्हें कोई दोष न बोलो उन्हें क्या दोष है ।।२८५।।

(दोहा)

ज्ञानस्वभावी आतमा स्वभावप्राप्ति है इष्ट।
अत: मुमुक्षु जीव को ज्ञानभावना इष्ट ।।८२।।[1]

(रोला)

शुद्धजीव तो एकमात्र है ज्ञानस्वरूपी।
अत: आतमा निश्चित जाने निज आतम को ।।
यदि साधक न जाने स्वातम को प्रत्यक्ष तो।
ज्ञान सिद्ध हो भिन्न निजातम से हे भगवन् ।।२८६।।

(दोहा)

ज्ञान अभिन है आत्म से अत: जाने निज आत्म।
भिन्न सिद्ध हो वह यदि न जाने निज आत्म ।।८३।।[2]

(सोरठा)

आतम दर्शन-ज्ञान दर्श-ज्ञान है आतमा।
यह सिद्धान्त महान स्वपरप्रकाशे आतमा ।।२८७ ।।

(हरिगीत)

सर्वार्थ जाने जीव पर उनरूप न परिणमित हो।
बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ।।८४।।[3]

सहज महिमावंत जिनवर लोक रूपी भवन में।
थित सर्व अर्थों को अरे रे देखते अर जानते ।।
निर्मोहता से सभी को नित ग्रहण करते हैं नहीं।
कलिमल रहित सद्ज्ञान से वे लोक के साक्षी रहें ।।२८८।।

१. आत्मानुशासन, छन्द १७४
२. गाथा कहाँ की है, इसका उल्लेख नहीं है
३. प्रवचनसार, गाथा ५२

(हरिगीत)

ईहापूर्वक वचनरचनारूप न बस इसलिए।
प्रकट महिमावंत जिन सब लोक के भरतार हैं ।।
निर्मोहता से उन्हें पूरण राग-द्वेषाभाव है।
द्रव्य एवं भावमय कुछ बंध होगा किस तरह? ।।२८९।।

अरे जिनके ज्ञान में सब अर्थ हों त्रयलोक के।
त्रयलोकगुरु चतुकर्मनाशक देव हैं त्रयलोक के ।।
न बंध है न मोक्ष है न मूर्छा न चेतना।
वे नित्य निज सामान्य में ही पूर्णत: लवलीन हैं ।।२९०।।

धर्म एवं कर्म का परपंच न जिनदेव में।
रे रागद्वेषाभाव से वे अतुल महिमावंत हैं ।।
वीतरागी शोभते श्रीमान् निज सुख लीन हैं।
मुक्तिरमणी कंत ज्ञानज्योति से हैं छा गये ।।२९१।।

यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों।
हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरहंत के ।।८५।।[1]

इन्द्र आसन कंप कारण महत केवलज्ञानमय।
शिवप्रियामुखपद्मरवि सद्धर्म के रक्षामणि ।।
सर्ववर्तन भले हो पर मन नहीं है सर्वथा।
पापाटवीपावक जिनेश्वर अगम्य महिमावंत हैं ।।२९२।।

(दोहा)

छह अपक्रम से सहित हैं जो संसारी जीव।
उनसे लक्षण भिन्न हैं सदा सुखी सिध जीव ।।२९३।।

(वीर)

देव और विद्याधरगण से नहीं वंद्य प्रत्यक्ष जहान।
बंध छेद से अतुलित महिमा धारक हैं जो सिद्ध महान ।।
अरे लोक के अग्रभाग में स्थित हैं व्यवहार बखान।
रहें सदा अविचल अपने में यह है निश्चय का व्याख्यान ।।२९४।।

१. प्रवचनसार, गाथा ४४

(दोहा)

पंचपरावर्तन रहित पंच भवों से पार।
पंचसिद्ध बंदौ सदा पंचमोक्षदातार।।२९५।।

(वीर)

राग-द्वेष के द्वन्द्वों में जो नहीं रहे अघनाशक है।
अखिल पापवन के समूह को दावानल सम दाहक है।।
अविचल और अखण्ड ज्ञानमय दिव्य सुखामृत धारक है।
अरे भजो निज आतम को जो विमलबोध का दायक है।।२९६।।

(हरिगीत)

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो।
यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे।।
जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में।
हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय।।८६।।[१]

(वीर)

भाव पाँच हैं उनमें पंचम परमभाव सुखदायक है।
सम्यक् श्रद्धा धारकगोचर भवकारण का नाशक है।।
परमशरण है इस कलियुग में एकमात्र अघनाशक है।
इसे जान ध्यावें जो मुनि वे सघन पापवन पावक हैं।।२९७।।

भव सुख-दुख अर जनम-मरण की पीड़ा नहीं रंच जिनके।
शत इन्द्रों से वंदित निर्मल अद्भुत चरण कमल जिनके।।
उन निर्बाध परम आतम को काम कामना को तजकर।
नमन करूँ स्तवन करूँ मैं सम्यक् भाव भाव भाकर।।२९८।।

(दोहा)

आत्मसाधना से रहित है अपराधी जीव।
नमूँ परम आनन्दघर आतमराम सदीव।।२९९।।

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १३८

(रोला)

जनम जरा ज्वर मृत्यु भी है पास न जिसके।
गती-अगति भी नाहिं है उस परमतत्त्व को।।
गुरुचरणों की सेवा से निर्मल चित्तवाले।
तन में रहकर भी अपने में पा लेते हैं।।८७।।[१]

अनुपम गुण से शोभित निर्विकल्प आतम में।
अक्षविषमवर्तन तो किंचित्मात्र नहीं है।।
भवकारक गुणमोह आदि भी जिसमें न हों।
उसमें निजगुणरूप एक निर्वाण सदा है।।३००।।

जिसने घाता पापतिमिर उस शुद्धातम में।
कर्म नहीं हैं और ध्यान भी चार नहीं हैं।।
निर्वाण स्थित शुद्ध तत्त्व में मुक्ति है वह।
मन-वाणी से पार सदा शोभित होती है।।३०१।।

बंध-छेद से नित्य शुद्ध प्रसिद्ध सिद्ध में।
ज्ञानवीर्यसुखदर्शन सब क्षायिक होते हैं।।
गुणमणियों के रत्नाकर नित शुद्ध शुद्ध हैं।
सब विषयों के ज्ञायक दर्शक शुद्ध सिद्ध हैं।।३०२।।

जिनमत संमत मुक्ति एवं मुक्तजीव में।
हम युक्ति आगम से कोई भेद न जाने।।
यदि कोई भवि सब कर्मों का क्षय करता है।
तो वह परमकामिनी का वल्लभ होता है।।३०३।।

तीन लोक के शिखर सिद्ध स्थल के ऊपर।
गति हेतु के कारण का अभाव होने से।।
अरे कभी भी पुद्गल जीव नहीं जाते हैं।
आगम में यह तथ्य उजागर किया गया है।।३०४।।

नियमसार अर तत्फल यह उत्तम पुरुषों के।
हृदय कमल में शोभित है प्रवचन भक्ति से।।
सूत्रकार ने इसकी जो अद्भुत रचना की।
भविकजनों के लिए एक मुक्तीमारग है।।३०५।।

१. योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति, छन्द ५८

(हरिगीत)

देहपादपव्यूह से भयप्रद बसें वनचर पशु।
कालरूपी अग्नि सबको दहे सूखे बुद्धिजल।।
अत्यन्त दुर्गम कुनयरूपी मार्ग में भटकन बहुत।
इस भयंकर वन विषैं है जैनदर्शन इक शरण।।३०६।।

सम्पूर्ण पृथ्वी को कंपाया शंखध्वनि से आपने।
सम्पूर्ण लोकालोक है प्रभु निकेतन तन आपका।।
हे योगि! किस नर देव में क्षमता करे जो स्तवन।
अती उत्सुक भक्ति से मैं कर रहा हूँ स्तवन।।३०७।।

सुकविजन पंकजविकासी रवि मुनिवर देव ने।
ललित सूत्रों में रचा इस परमपावन शास्त्र को।।
निज हृदय में धारण करे जो विशुद्ध आतमकांक्षी।
वह परमश्री वल्लभा का अती वल्लभ लोक में।।३०८।।

पद्मप्रभमलधारि नामक विरागी मुनिदेव ने।
अति भावना से भावमय टीका रची मनमोहनी।।
पद्मसागरोत्पन्न यह है उर्मियों की माल जो।
कण्ठाभरण यह नित रहे सज्जनजनों के चित्त में।।३०९।।

(दोहा)

यदि इसमें कोइ पद लगे लक्षण शास्त्र विरुद्ध।
भद्रकवि रखना वहाँ उत्तम पद अविरुद्ध।।३१०।।

(हरिगीत)

तारागण से मण्डित शोभे नील गगन में।
अरे पूर्णिमा चन्द्र चाँदनी जबतक नभ में।।
हेयवृत्ति नाशक यह टीका तबतक शोभे।
नित निज में रत सत्पुरुषों के हृदय कमल में।।३११।।

●●●

नियमसार अनुशीलन

भाग – ३

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट्

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट

ए–४, बापूनगर, जयपुर–३०२ ०१५

फोन : ०१४१–२७०७४५८, २७०५५८१

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण हिन्दी : २ हजार

(१३ नवम्बर २०१२, भगवान महावीर निर्वाणोत्सव)

वीतराग–विज्ञान (हिन्दी–मराठी) के

सम्पादकीयों के रूप में : ९ हजार ६००

कुल : **११ हजार ६००**

मूल्य : **२५ रुपये**

टाइपसैटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,

ए–४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

क्षयोपशम बहुत है

पण्डित हुकमचन्द के बारे में तो हमने कहा था कि उसका क्षयोपशम बहुत है, बहुत है। वर्तमान तत्त्व की प्रभावना में उसका बड़ा हाथ है, स्वभाव का भी सरल है। अच्छा मिल गया, टोडरमल स्मारक को बहुत अच्छा मिल गया। गोदीका के भाग्य से मिल गया। गोदीका पुण्यशाली है न, सो मिल गया। तत्त्व की बारीक से बारीक बात पकड़ लेता है, पण्डित हुकमचन्द बहुत ही अच्छा है।

ह्र आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

समयसार का शिखर पुरुष

समयसार वाचना में आपके समयसार व्याख्यान सुनकर हृदय बहुत ही गद्‌गद् हो गया और उससे बहुत धर्मलाभ भी प्राप्त हुआ। मुझे तो ऐसा लगता है कि जैनदर्शन का मर्म **'समयसार'** में भरा है और **'समयसार'** का व्याख्याता आज आपसे बढकर दूसरा नहीं है।

आपको इसका बहुत गूढ–गम्भीर ज्ञान भी है और उसके प्रतिपादन की सुन्दर शैली भी आपके पास है।

यदि आपको **'समयसार का शिखर पुरुष'** भी आज की तिथि में घोषित किया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

आज के समय में जब एक–दो बच्चों को भी पालना (संस्कारित करना) बहुत कठिन है, आपने सैकड़ों बालकों को जैनदर्शन का विद्वान बनाकर समाज की महती सेवा की है, **जो इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखी जाती रहेगी।**

आप चिरायु हों, स्वस्थ रहें और जैनधर्म की महान प्रभावना करते रहें तथा सम्पूर्ण समाज भी एकजुट होकर आपके प्रवचनों को बड़ी सद्‌भावना से सुनकर लाभान्वित होती रहे ह्र यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है। आशीर्वाद। **ह्र आचार्य विद्यानंद मुनि**

प्रकाशकीय

अध्यात्मजगत के बहुश्रुत विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल इक्कीसवीं शताब्दी के मूर्धन्य विद्वानों में अग्रणी हैं। सन् १९७६ से जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्म और फिर उसके पश्चात् वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में आपके द्वारा आजतक जो कुछ भी लिखा गया, वह सब जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, लगभग सभी पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होकर स्थायी साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है।

डॉ. भारिल्ल जितने कुशल प्रवक्ता हैं, लेखन के क्षेत्र में भी उनका कोई सानी नहीं है। यही कारण है कि आज उनके साहित्य की देश की प्रमुख आठ भाषाओं में लगभग ४५ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित होकर जन-जन तक पहुँच चुकी हैं। आपने अबतक ७८ कृतियों के माध्यम से साढे तेरह हजार (१३,५००) पृष्ठ लिखे हैं और लगभग १५ हजार पृष्ठों का सम्पादन किया है, जो सभी प्रकाशित हैं। आपकी प्रकाशित कृतियों की सूची इसमें यथास्थान दी गई है।

प्रात:स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागम ह्न समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड़ आदि ग्रंथों पर आपका विशेषाधिकार है। आपके द्वारा लिखित और पाँच भागों में २२६१ पृष्ठों में प्रकाशित समयसार अनुशीलन के अतिरिक्त ४०० पृष्ठों का समयसार का सार व ६३८ पृष्ठों की समयसार की ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका जन-जन तक पहुँच चुकी है।

इसीप्रकार १२५३ पृष्ठों का प्रवचनसार अनुशीलन तीन भागों में, ४०७ पृष्ठों का प्रवचनसार का सार एवं ५७२ पृष्ठों की प्रवचनसार की ज्ञानज्ञेयतत्त्व-प्रबोधिनी टीका भी प्रकाशित होकर आत्मार्थी जगत में धूम मचा चुकी हैं।

नियमसार अनुशीलन तीनों भागों में ९१८ पृष्ठों में तथा ५०० पृष्ठों की नियमसार ग्रंथ की आत्मप्रबोधिनी टीका ह्न इसप्रकार सर्वश्रेष्ठ दिगंबराचार्य कुंदकुंद की अमरकृति समयसार, प्रवचनसार और नियमसार पर ही आप कुल मिलाकर ७१४९ पृष्ठ लिख चुके हैं।

समयसार तथा प्रवचनसार की भाँति यह नियमसार भी गूढ, गम्भीर एवं सूक्ष्म विषयों का प्रतिपादक ग्रंथाधिराज है। आचार्य कुन्दकुन्द के इन ग्रंथों को समझने के लिए बौद्धिक पात्रता की आवश्यकता तो अधिक है ही, विशेष रुचि एवं खास लगन के बिना इन ग्रथों के हार्द को समझ पाना संभव नहीं है। अत: पाठकों को अधिक धैर्य रखते हुए इन ग्रंथों का स्वाध्याय गहराई से करना चाहिए।

यह तो सर्वविदित ही है कि **डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व** नामक शोधप्रबंध पर मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ने **डॉ. महावीरप्रसाद जैन, टोकर (उदयपुर)** को पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की है। इसी विश्वविद्यालय से डॉ. मंजू चतुर्वेदी के निर्देशन में श्रीमती सीमा-जिनेन्द्र जैन ने 'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन' विषय पर शोध प्रबंध प्रस्तुत किया है। डॉ. भारिल्ल के साहित्य को आधार बनाकर अनेक छात्रों ने हिन्दी एम.ए. के निबंध के पेपर के बदले में लिखे जानेवाले लघु शोध प्रबंध भी लिखे हैं, जो राजस्थान विश्वविद्यालय में स्वीकृत हो चुके हैं।

अरुणकुमार जैन बड़ामलहरा द्वारा लिखित **डॉ. भारिल्ल का कथा साहित्य** नामक लघु शोध प्रबंध प्रकाशित भी हो चुका है एवं अनेक शोधार्थी अभी भी डॉ. भारिल्ल के साहित्य पर शोधकार्य कर रहे हैं।

अभी-अभी २८ अक्टूबर २००९ को मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ ने आपको **डी.लिट्** की मानद उपाधि से अलंकृत कर स्वयं को गौरवान्वित किया है।

आपके द्वारा विगत २८ वर्षों से धर्मप्रचारार्थ लगातार विदेश यात्रायें की जा रही हैं, जिनके माध्यम से वे विश्व के कोने-कोने में तत्त्वज्ञान का अलख जगा रहे हैं।

इस पुस्तक की टाइपसैटिंग श्री दिनेश शास्त्री ने मनोयोगपूर्वक की है तथा आकर्षक कलेवर में मुद्रण कराने का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रबंधक श्री अखिल बंसल को जाता है। अत: दोनों महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत संस्करण की प्रकाशन व्यवस्था और मूल्य कम करने में जिन दातारों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनकी सूची इसी ग्रंथ में अन्यत्र प्रकाशित है; उन्हें भी ट्रस्ट की ओर से हार्दिक धन्यवाद।

सभी आत्मार्थी जिज्ञासु पाठक इस अनुशीलन का पठन-पाठन कर आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें ह्न इसी मंगल भावना के साथ ह्न

दि. १३ नवम्बर २०१२ ई. **ब्र. यशपाल जैन,** एम.ए.

प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अनुक्रमणिका

गाथा १२२	**२**
कलश २००	४
गाथा १२३	**५**
कलश २०१	६
गाथा १२४	**७**
कलश २०२	१०
गाथा १२५	**११**
कलश २०३	१३
गाथा १२६	**१४**
कलश २०४	१५
कलश २०५	१६
कलश २०६	१७
कलश २०७	१७
कलश २०८	१८
कलश २०९	१८
कलश २१०	२०
कलश २१०	२०
गाथा १२७	**२३**
कलश २१२	२४
गाथा १२८	**२६**
कलश २१३	२७
गाथा १२९	**२९**
कलश २१४	३०
गाथा १३०	**३२**
कलश २१५	३४
कलश २१६	३५
कलश २१७	३६
गाथा १३१–१३२	**३८**
कलश २१८	४०
गाथा १३३	**४२**
कलश २१९	४३
गाथा १३४	**४६**
कलश २२०	४९
गाथा १३५	**५१**
कलश २२१	५२
कलश २२२	५३
कलश २२३	५३
कलश २२४	५५
कलश २२५	५५
कलश २२६	५७
गाथा १३६	**५९**
कलश २२७	६०
गाथा १३७	**६२**
कलश २२८	६४
गाथा १३८	**६५**
कलश २२९	६६
गाथा १३९	**६७**
कलश २३०	६९
गाथा १४०	**७१**
कलश २३१	७३
कलश २३२	७४
कलश २३३	७४
कलश २३४	७५
कलश २३५	७७
कलश २३६	७७
कलश २३७	७९
गाथा १४१	**८१**
कलश २३८	८५
गाथा १४२	**८७**
कलश २३९	८९
गाथा १४३	**९१**
कलश २४०	९३
कलश २४१	९४
कलश २४२	९५
कलश २४३	९६
कलश २४४	९८
गाथा १४४	**९९**
कलश २४५	१०३
गाथा १४५	**१०४**
कलश २४६	१०७
गाथा १४६	**१०८**
कलश २४७	१०९
कलश २४८	११०
कलश २४९	१११
कलश २५०	११२
कलश २५१	११३
कलश २५२	११५
कलश २५३	११६
कलश २५४	११६
गाथा १४७	**११८**
कलश २५५	१२०
गाथा १४८	**१२२**
कलश २५६	१२३
कलश २५७	१२४
गाथा १४९	**१२५**
कलश २५८	१२८
गाथा १५०	**१३०**
कलश २५९	१३२
गाथा १५१	**१३४**
कलश २६०	१३५

अनुक्रमणिका

गाथा ३९	**१६४**
कलश २६१	१३६
गाथा १५२	**१३८**
कलश २६२	१४०
गाथा १५३	**१४१**
कलश २६३	१४३
गाथा १५४	**१४६**
कलश २६४	१४९
गाथा १५५	**१५१**
कलश २६५	१५३
कलश २६६	१५५
गाथा १५६	**१५७**
कलश २६७	१६०
गाथा १५७	**१६२**
कलश २६८	१६४
कलश २६९	१६५
गाथा १५८	**१६८**
कलश २७०	१७०
कलश २७१	१७१
गाथा १५९	**१७३**
कलश २७२	१७९
गाथा १६०	**१८१**
कलश २७३	१८३
कलश २७४	१८४
कलश २७५	१८६
कलश २७६	१८७
गाथा १६१	**१८८**
कलश २७७	१९१
गाथा १६२	**१९३**
कलश २७८	१९६
गाथा १६३	**१९८**
कलश १७९	१९९
गाथा १६४	**२०१**
कलश २८०	२०३
गाथा १६५	**२०५**
कलश २८१	२०७
गाथा १६६	**२०८**
कलश २८२	२०९
गाथा १६७	**२१२**
कलश २८३	२१५
गाथा १६८	**२१७**
कलश २८४	२१८
गाथा १६९	**२२०**
कलश २८५	२२४
गाथा १७०	**२२५**
कलश २८६	२२९
गाथा १७१	**२३२**
कलश २८७	२३३
गाथा १७२	**२३४**
कलश २८८	२३७
गाथा १७३–१७४	**२३८**
कलश २८९	२४०
कलश २९०	२४१
कलश २९१	२४२
गाथा १७५	**२४४**
कलश २९२	२४७
गाथा १७६	**२४९**
कलश २९३	२५०
कलश २९४	२५१
कलश २९५	२५१
गाथा १७७	**२५३**
कलश २९६	२५४
गाथा १७८	**२५५**
कलश २९७	२५९
गाथा १७९	**२६१**
कलश २९८	२६३
कलश २९९	२६४
गाथा १८०	**२६५**
कलश ३००	२६८
गाथा १८१	**२७०**
कलश ३०१	२७२
गाथा १८२	**२७४**
कलश ३०२	२७५
गाथा १८३	**२७६**
कलश ३०३	२७७
गाथा १८४	**२७८**
कलश ३०४	२७९
गाथा १८५	**२८०**
कलश ३०५	२८१
गाथा १८६	**२८३**
कलश ३०६	२८५
कलश ३०७	२८७
गाथा १८७	**२८९**
कलश ३०८	२९२
कलश ३०९	२९४
कलश ३१०	२९४
कलश ३११	२९५
गाथा पद्यानुवाद	**२९६–३००**
कलश पद्यानुवाद	**३०१–३२०**

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००	४४. निमित्तोपादान	३.५०
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००	४५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
७. समयसार का सार	३०.००	४६. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
८. गाथा समयसार	१०.००	४७. ध्यान का स्वरूप	४.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००	४८. रीति-नीति	३.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००	४९. शाकाहार	३.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००	५०. भगवान ऋषभदेव	४.००
१४. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००	५१. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
१५-१६. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००	५२. चैतन्य चमत्कार	४.००
१७. छहढाला का सार	१५.००	५३. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
१८. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००	५४. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
१९. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००	५५. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
२०. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व	२०.००	५६. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
२१. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००	५७. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	५.००
२२. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००	५८. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
२३. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००	५९. जिनवरस्य नयचक्रम	१०.००
२४. धर्म के दशलक्षण	२०.००	६०. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
२५. क्रमबद्धपर्याय	२०.००	६१. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
२६. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वार्द्ध)	२०.००	६२. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
२७. बिखरे मोती	१६.००	६३. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
२८. सत्य की खोज	२५.००	६४. समयसार पद्यानुवाद	३.००
२९. अध्यात्म नवनीत	१५.००	६५. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
३०. आप कुछ भी कहो	१२.००	६६. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
३१. आत्मा ही है शरण	१५.००	६७. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
३२. सुक्ति-सुधा	१८.००	६८. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
३३. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००	६९. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
३४. दृष्टि का विषय	१०.००	७०. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
३५. गागर में सागर	७.००	७१. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
३६. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००	७२. सिद्धभक्ति	१०.००
३७. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००	७३. अर्चना जेबी	१.५०
३८. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	७४. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
३९. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	७५. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
४०. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	७६-७७. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	६.००
४१. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००	७८-८०. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१२.००
४२. मैं कौन हूँ	७.००	८१-८२. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००
४३. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००	८३. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ)	१५०.००
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. महावीरप्रसाद जैन	३०.००
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य ह्र अरुणकुमार जैन	१२.००
४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन - अखिल जैन बंसल	२५.००
५. गुरु की दृष्टि में शिष्य	५.००
६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल	५.००

प्रकाशनाधीन

५. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन ह्र नीतू चौधरी
६. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन ह्र सीमा जैन
७. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ह्र शिखरचन्द जैन
८. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन ह्र ममता गुप्ता

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००	४४. निमित्तोपादान	३.५०
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००	४५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
७. समयसार का सार	३०.००	४६. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
८. गाथा समयसार	१०.००	४७. ध्यान का स्वरूप	४.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००	४८. रीति-नीति	३.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००	४९. शाकाहार	३.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००	५०. भगवान ऋषभदेव	४.००
१४. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००	५१. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
१५-१६. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००	५२. चैतन्य चमत्कार	४.००
१७. छहढाला का सार	१५.००	५३. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
१८. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००	५४. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
१९. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००	५५. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
२०. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व	२०.००	५६. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
२१. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००	५७. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	५.००
२२. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००	५८. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
२३. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००	५९. जिनवरस्य नयचक्रम	१०.००
२४. धर्म के दशलक्षण	२०.००	६०. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
२५. क्रमबद्धपर्याय	२०.००	६१. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
२६. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वार्द्ध)	२०.००	६२. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
२७. बिखरे मोती	१६.००	६३. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
२८. सत्य की खोज	२५.००	६४. समयसार पद्यानुवाद	३.००
२९. अध्यात्म नवनीत	१५.००	६५. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
३०. आप कुछ भी कहो	१२.००	६६. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
३१. आत्मा ही है शरण	१५.००	६७. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
३२. सुक्ति-सुधा	१८.००	६८. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
३३. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००	६९. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
३४. दृष्टि का विषय	१०.००	७०. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
३५. गागर में सागर	७.००	७१. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
३६. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००	७२. सिद्धभक्ति	१०.००
३७. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००	७३. अर्चना जेबी	१.५०
३८. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	७४. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
३९. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	७५. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
४०. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	७६-७७. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	६.००
४१. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००	७८-८०. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१२.००
४२. मैं कौन हूँ	७.००	८१-८२. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००
४३. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००	८३. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ)	१५०.००
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. महावीरप्रसाद जैन	३०.००
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य ह्र अरुणकुमार जैन	१२.००
४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन - अखिल जैन बंसल	२५.००
५. गुरु की दृष्टि में शिष्य	५.००
६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल	५.००

प्रकाशनाधीन

५. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन ह्र नीतू चौधरी
६. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन ह्र सीमा जैन
७. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ह्र शिखरचन्द जैन
८. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन ह्र ममता गुप्ता